नरक का न्याय

मोहनसिंह सेंगर

१९५१

आत्माराम एण्ड संस

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

काश्मीरी गेट,

दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड सन्स,
काश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य दो रुपये

मुद्रक
यूनिवर्सिटी ट्यूटोरियल प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली

बहन चन्द्रा को,
जो अब नहीं है !

आमुख

आजके युग को हम विश्व-मानवता का संक्रमण-काल कह सकते हैं। एक सुदीर्घ कालव्यापी युग के मूल्य और मान, मानव के विचार और भावनाएँ, उसका ज्ञान और विवेक, उसकी आत्मा और आदर्श—यहाँ तक कि उसके जीवन की समूची गति-विधि और रूप-रेखा ही—मानो अतीत के जीर्ण-शीर्ण सूत्रों को छिन्न-भिन्न कर कठोर वास्तविकताओं के घात-प्रत्याघातों में से दौर्बल्य एवं अविश्वास का क्षय और नवीन बल एवं विश्वास का संचय करते हुए जीवन की नई भूमि, नई अभिव्यक्ति और नए मूल्यों-मानों की ओर अग्रसर हो रहे हैं। कहीं पुराचीन का मोह मानव को संशयालु बना देता है, तो कहीं विध्वंस का भय उसे नव-निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने से रोक सा लेता है। पर परिस्थितियों का प्रभाव और युग-चेतना का आलोक उसे अचल न रहने देकर नव-जीवन के विकास-पथ पर आगे ही लिये जा रहे हैं। विघ्न और बाधाएँ अदूरदर्शिता और कायरता, मोह और संशय मानो धीरे-धीरे हार कर उसका रास्ता छोड़ते जा रहे हैं।

साहित्य को चाहे हम जीवन का दर्शन मानें चाहे दर्पण; पर यह सुस्पष्ट है कि मानव-जीवन और उसकी आत्मा का यहआलोड़न आज उसमें जीवन की अभिव्यक्ति की एक सुनिर्दिष्ट नई दिशा के इंगित के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। इसका कारण यह है कि आज का साहित्य और साहित्यकार जीवन की यथार्थता से अप्रभावित और अछूते नहीं रह सकते। जीवन के क्रिया-

कलापों को, संसार की ऊपरी सतह पर घटने वाले व्यापारों को, बाहरी एवं नगण्य बातें कह कर आज वे इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। जीवन के स्थूल सत्यों से मुँह मोड़कर आज का साहित्य और साहित्यकार शाश्वत सत्यों के गजदन्ती मीनारों में अधिक दिन विलमा नहीं सकते। आज के युग का सबसे बड़ा और सबसे ऊँचा सत्य 'मानव' ही है और वह एक ऐसी कसौटी है, जिस पर सभी मूल्यों एवं मानों को कस कर उनके मानव-विकास के लिए सहायक या बाधक, उपयोगी या हानिकर होने का अन्तिम निर्णय किया जा रहा है—किया जाना भी चाहिए। कल्पना की रंगीनी आज नभ की अपेक्षा भू के रंगों से अधिक सामंजस्य स्थापित करने वाली हो रही है। आज के साहित्यकार को मानव के सुख के क्षण से आज उतना ही सरोकार है, जितना कि उसकी एक हूक या दबी हुई आह से; उसकी विजय से उसका आज उतना ही सम्बन्ध है, जितना कि उसकी विफलता से। दूसरे शब्दों में आह और हूक को भी सुख का क्षण बनाने, पराजय और विफलता को भी आशा उत्साह की डोर में बाँधकर विजय की ओर ले जाने को उन्मुख आज का साहित्यकार मानवीय व्यापारों का दर्शक न होकर पथ-दर्शक बन रहा है। आज 'स्वान्तः सुखाय' की सीमाएँ उसके अपने दायरे तक ही संकुचित नहीं रही हैं। मानव-मन के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर जैसे वह उस की पीड़ा को गुदगुदा देता है—और शायद इसी चेष्टा में व्यापक मानवता के प्रति उसका कर्त्तव्य-जनित उद्देश्य-आदर्श भी एक कलामयी अभिव्यक्ति पा जाता है।

आज के युग में, जब कि परिस्थितियों के दबाव से मानव की समस्याएँ—उसकी चिन्ता, अभाव, असन्तोष—और

जीवन के दर्शन तथा मूल्यों के पुनर्निर्माण की भूख अथवा आग्रह विशेष गतिमान है, साहित्य भी सूक्ष्म की अपेक्षा स्थूल-पक्ष को ही लेकर विशेष चलता है। इसे युग की माँग कह लें, अथवा युग-स्थिति की प्रतिक्रिया, पर है आज इसी की प्रधानता। हिंदी का आधुनिक कथा-साहित्य इसका सर्व प्रधान और सुस्पष्ट प्रमाण है। इस संग्रह की कहानियाँ भी इस का अपवाद नहीं हैं। हाँ, कभी-कभी उन घटनाओं और व्यक्तियों एवं व्यक्तित्वों का—जिन्हें इन कहानियों की रीढ़ बनाया गया है—घटाटोप मस्तिष्क पर इतना हावी ज़रूर हो गया है कि माध्यम की श्रेष्ठता अथवा उसे सुघर-सँवारकर रखने में अपेक्षाकृत कम ध्यान रखा गया है। कहीं जान-बूझकर टेकनीक पर ध्यान कम दिया गया है, तो कहीं विषय-वस्तु की स्वाभाविक प्रगति ने स्वयं प्रचलित परम्पराओं की लीक छोड़ दी है। पर यह आलोचकों अथवा विशेषज्ञों के लिए आपत्ति की बात हो सकती है; सर्वसाधारण के लिए तो हर कहानी में एक संदेश है, जो न एकदम छिछला और उघड़ा ही है और न रहस्यमय या गहन गंभीर ही।

यदि लेखक का यह तुच्छ प्रयास पाठकों में कोई स्वस्थ एवं वाँछनीय प्रतिक्रिया पैदा कर सका, तो वह अपने परिश्रम को सार्थक समझेगा।

३३, नेताजी सुभाष रोड,
कलकत्ता; १५ अगस्त, १९५१

मोहनसिंह सेंगर

क्रम

१. नरक का न्याय	...	...	...	१
२. बलाई	...	...	...	१३
३. कुल की लाज	...	...	...	२४
४. जोज़फ़	...	...	...	३२
५. हमने गांधी तक को मार डाला		...	...	४७
६. कफ़न की चोरी	...	...	...	५८
७. चिन्मयी	...	...	...	७२
८. अपना राज	...	...	...	८६
९. रेजिडेंसी की सड़क		...	...	९८
१०. एक लावारिस ख़त		...	...	११३
११. फूलों की रानी		...	...	१२५
१२. चोर	...	...	...	१३३
१३. आइसक्रीम	...	...	...	१४६

१

नरक का न्याय

१

कलकत्ते के प्रधान राजमार्ग पर खड़ा यह छमंज़िला मकान किसी राजा-महाराजा के महल से कम भव्य नहीं दिखाई देता। पर बाहर से वह जितना साफ़-सुथरा नज़र आता है, भीतर से उतना ही गंदा और बदबूदार है। उसके भीतर घुसते ही बन्द हवा, नमी और अन्धेरे से ऐसा महसूस होता है मानो किसी पुराने ज़मींदोज़ तहख़ाने में आ गये हों। छोटे-छोटे कमरे, मच्छरों की भनभनाहट, मकड़ी के जालों, हवा की आमदरफ़्त के माकूल इन्तज़ाम के न होने से दम घुटानेवाले वातावरण और दीवारों की सील से मानो मौत और बीमारियों के घर बने नज़र आते हैं।

भीतर घुसते ही बायीं तरफ़ कोने में एक पाख़ाना है। इसकी लम्बाई ४ और चौड़ाई ३॥ फीट के लगभग होगी। फ़्लश मुद्दत से काम नहीं करता। दीवारों पर से चूना सील-सीलकर झड़ गया है। पाख़ाना बैठने के ठीहे ज़रूरत से ज़्यादा इस्तेमाल किये जाने के कारण बिल्कुल गोल हो गये हैं। बीच का गढ़ा गन्दगी से थुपा, मक्खियों का अड्डा सा बन रहा है। यह बताना मुश्किल है कि कब वह साफ़ होता है और कब गन्दा। आफ़त के मारे लोग आकर यहाँ पेशाब-पाख़ाना करते हैं। पाख़ाने के पास एक उतनी ही लम्बाई-चौड़ाई की कोठरी है, जिसके किवाड़ हमेशा बन्द ही रहते हैं।

एक दिन संयोगवश मैं इसी पाख़ाने में पेशाब करने चला गया।

अभी मैं पेशाब कर ही रहा था कि पास की कोठरी से आवाज़ आयी—'कौन मूत रहा है रे ?' और उसके बाद ही जैसे किसी बाल-कण्ठ से हँसने का-सा स्वर निकला।

एक अजीब-सी सिहरन मेरी नसों में दौड़ गयी। कई वर्षों से मैं इस मकान के ऊपर के तल्ले में रह रहा हूँ। पर मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि ऐसी जगह कोई आदमज़ाद रह भी सकता है। मन में आया कि देखूँ-पूछूँ आखिर यहाँ कौन रहता है। बाहर आकर झाँका, तो देखा कि कोठरी के किवाड़ हस्बदस्तूर बन्द हैं। भीतर और बाहर एक-सा अँधेरा था। बाहर से कोठरी को बन्द देखकर शायद ही कभी किसी का ध्यान उधर जाता हो, अगर जाता भी हो, तो यह तो कभी कोई सोच ही नहीं सकता कि उसमें इन्सान रहता है अथवा रह सकता है। काफ़ी असमंजस के साथ मैंने किवाड़ों को पीछे ठेला। वे थोड़ा खुले और फिर जैसे किसी ने भीतर से रोककर उनका और खुलना अटका दिया हो। भीतर से आवाज़ आयी—'कौन है ?'

समझ में नहीं आया कि क्या जवाब दूँ ? मैं भी उसी मकान में रहनेवाला एक सामान्य किरायेदार था। पर इतना-सा परिचय शायद यहाँ काफ़ी न होता। अतएव बिना कुछ कहे-सुने ही दबे पांव मैं बाहर की ओर चल दिया। जाते-जाते मैंने महसूस किया जैसे मेरे पीछे किवाड़ कुछ और खुले और किसी ने ज़रा सधी हुई आवाज़ में अपना प्रश्न दोहराया—'कौन है रे ? बोलता क्यों नहीं ?'

बोलता मैं क्या ? ज़बान मेरी जैसे तालू से चिपक गयी थी। मन और मस्तिष्क पर हथौड़े की-सी चोट बार-बार पड़ रही थी—तो यहाँ इन्सान रहते हैं ! ओफ़ ! बाहर का अन्धेरा मानो एकबारगी मेरे अन्तस् में सिमट रहा।

२

दूसरे दिन सुबह जब रोज़ की तरह ही कान पर जनेऊ चढ़ा और हाथ में लोटा लिए लोगों का पाख़ाने के लिये नम्बर लगा, तो मैं अपनी जगह छोड़कर पाख़ाने के पासवाली कोठरी के सामने जा खड़ा हुआ। एक किवाड़ खुला था। भीतर झाँककर देखा—बीच में एक मैले-फटे बोरे के टुकड़े पर एक ५-६ महीने का बच्चा पड़ा हाथ-पांव चलाकर खेल रहा था और एक ४-५ वर्ष का बच्चा कोने से लगा बैठा बासी रोटी का एक टुकड़ा चूस रहा था। मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही किसी ने पीछे से कहा—'क्या है, बाबू?'

मैं पीछे मुड़ा। देखा, घर को साफ़ करनेवाली भंगिन एक हाथ में एक बड़ा-सा झाड़ू लिए और दूसरे से ललाट का पसीना पोछते हुए उत्सुक नेत्रों से मेरी ओर ताक रही है। सहज भाव से मैंने कहा—'कुछ नहीं, वैसे ही देख रहा था। यही तुम लोगों का घर है?'

'घर क्या है बाबूजी, वैसे ही गुज़र करने-भर का बहाना है। खुद मालिक कह गये थे कि तुम लोग यहाँ रहना। पर अब जो नया दरबान आया है, वह तंग करता है। कहता है, यहाँ मैं रसोई बनाऊँगा, तुम लोग अपने रहने का और कहीं इन्तज़ाम करो।'

'जब मालिक ने तुमको रहने को कहा है, तो दरबान कौन होता है निकालनेवाला?'

'सो बात नहीं है, मालिक,—कहकर भंगिन ने ज़रा सहमी हुई दृष्टि से इधर-उधर देखा और फिर ज़रा धीमी आवाज़ से मेरी ओर झुककर कहा—'यह दरबान बड़ा ख़राब आदमी है, बाबूजी! इसकी नज़र अच्छी नहीं। एकाध बार मुझे भी फुसलाना चाहा, पर हम लोग भी हुजूर···हाँ···आदमी पहचानते हैं।'

यह मेरे लिए दूसरा आघात था। सिर चकरा-सा गया। इसी समय देखा, एक मोटा-ताज़ा पहलवान-सा आदमी शरीर पर तेल चुपड़े, कमर से एक झीना लाल गमछा लपेटे और मुँह में एक मोटी-सी दातुन चबाता हुआ मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया और भंगिन की तरफ़ देखता हुआ अधिकार-दर्प से बोला, 'क्यों री रंडी, यहाँ खड़ी-खड़ी आँखें लड़ा रही है या सफ़ाई कर रही है? देखती नहीं, कितना दिन चढ़ गया है?'

लज्जा और क्षोभ से भंगिन का चेहरा लाल हो गया और एक तिरस्कार-भरी दृष्टि इस नर-पिशाच पर डालकर वह सहन में झाड़ू फेरने लगी।

अपनी विजय के गर्व से ज़रा अकड़कर एक शरारत-भरी मुसकराहट से मेरी ओर देख, दातुन चबाता हुआ धृष्ट दरबान अपनी कोठरी की ओर चल दिया। उसकी खड़ाऊँ के खट्-खट् शब्द से मुझे ऐसा लगा, मानो पाप और नीचता शैतान के पग बनकर दुनिया में विचरण कर रहे हैं।

३

एक दिन दफ़्तर जाने में काफ़ी देर हो गयी। मैं जल्दी-जल्दी सीढ़ियों से उतर रहा था कि देखा, भंगिन अभी उन्हें साफ़ ही कर रही है। उसका छोटा बच्चा इकतल्ले के कोने में लेटा है और बड़ा दो-एक सीढ़ी ऊपर चढ़कर सीढ़ी पर लगे जँगले से खेल रहा है। मुझे नीचे उतरता देखकर भंगिन ने बड़े लढ़के से कहा—'रास्ता छोड़ दे बचुआ, बाबूजी को निकल जाने दे।'

दोनों हाथों से जँगला पकड़े हुए बच्चे ने एक उड़ती हुई-सी नज़र मेरी ओर डाली और फिर दूसरे ही क्षण कुछ डर तथा चौंककर जल्दी-जल्दी नीचे उतरकर कोने में जाकर खड़ा हो गया। आँखें उसकी

नीची थीं और वह ऐसा सहमा हुआ था मानो मुझ से छू जाना उसके लिए बहुत बड़ा अपराध होता। सीढ़ी के मोड़ पर पहुँचकर मैं उसके सामने खड़ा हो गया और पूछा—'तुम्हारा नाम क्या है, बच्चे?'

बच्चे ने डरते-डरते अपनी आँखें ऊपर उठायीं और मेरे मुँह की ओर देख बिना कुछ कहे ही फिर नीचे देखने लगा! मैंने अपना प्रश्न फिर दोहराया—'बोलो, शरमाते क्यों हो? तुम्हारा नाम क्या है।'

इसी समय भंगिन ने भी कहा—'नाम बताओ, बचुआ। बाबूजी पैसा देंगे। डरो मत।'

मैंने फिर कहा—'हाँ बताओ, तुम्हें पैसा देंगे।'

बच्चे ने उसी झिझक और डर से फिर धीरे-धीरे अपनी आँखें ऊपर उठायीं। पर नज़र भरकर मेरी ओर देखने का साहस जैसे वह नहीं जुटा पा रहा था—मानो मैं, बाबू, किसी दूसरी ही दुनिया का आदमी होऊँ। मैंने फिर पूछा—'हाँ, बताओ तो, क्या नाम है तुम्हारा?'

बच्चे ने धीमी और काँपती आवाज़ में कहा—'र–त–न–ला–ल।' और फिर नीचे देखने लगा।

मैंने जेब से इकन्नी निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा—'नाम तो बड़ा अच्छा है तुम्हारा। अच्छा, यह लो तुम्हारा इनाम। मिठाई लेकर खा लेना।'

बच्चे ने झिझकते हुए आँखें ऊपर कीं। एक क्षण इकन्नी की ओर देखा, फिर अपनी माँ की ओर। धीरे-धीरे उसका दाँया हाथ ऊपर उठा। अभी वह आधा ही उठा होगा कि उसकी माँ ने झिड़ककर कहा—'बाबूजी को छुएगा क्या, कम्बख़्त?' और दूसरे ही क्षण बच्चे

की आँखें और हाथ मानों एक साथ आघात पाकर झुक गये।

'लो' डरते क्यों हो ?'—मैंने कहा।

बच्चे ने दोनों हाथों से कमीज़ का अगला हिस्सा मेरी ओर फैला दिया। यह मेरे लिए एक नया आघात था। इकन्नी मेरे हाथ से उसके पल्ले में गिरते-गिरते जैसे रुक गयी और मेरे मुँह से निकला—'नहीं, हाथ में लो।'

बच्चा फिर हतप्रभ-सा हो गया। मेरे कई बार कहने पर भी जब उसका हाथ नहीं उठा, तो मैंने स्वयं अपने हाथ से उसका हाथ ऊपर उठाकर इकन्नी उसमें थमा दी। बच्चा होठों-ही-होठों में ज़रा मुसकराया और फिर अपनी माँ की ओर देखने लगा। भंगिन तो मुझे बच्चे को छूता देखकर जैसे हक्का-बक्का रह गयी। पर इस अवसर पर उसकी उत्सुकता शान्त करने का समय मेरे पास नहीं था। अतः जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरकर मैं दफ़्तर की ओर चल पड़ा।

रतनलाल या उसकी माँ को मुझसे इकन्नी पाकर शायद कुछ खुशी हुई हो, पर मुझे उन्हें देख-सुनकर कोई खुशी नहीं हुई। जिस तरह वे उस सीलवाली छोटी-सी कोठरी में विष्ठा के कीड़े की-सी ज़िंदगी बसर कर रहे थे, जूठा-बासी खाकर जिंदा रह रहे थे और सफ़ेदपोशी की छाया तक से बचकर रह रहे थे उस सबको देखकर मानो मनुष्यत्व की हीनता और दासता मेरी आँखों के आगे साकार होकर आ खड़ी हुई थी। जिस समाज ने उन्हें गिरावट की इस सतह तक पहुँचाया, वह तनिक भी लज्जित कुंठित नहीं और स्वयं ये अर्द्ध-मानव तो जैसे अपने स्वत्व का एहसास और चेतना ही भूल-खो बैठे हैं। मानो यह समान अज्ञान ही दोनों का सम्बन्ध-सूत्र है।

रतनलाल से अब मेरी दोस्ती पक्की हो गई थी। जब कभी वह मुझे आते-जाते देखता, 'बाबूजी नमस्ते' या 'बाबूजी सलाम' कहकर

या तो हाथ आगे बढ़ा देता या उत्सुक नेत्रों से मेरी ओर देखने लगता। मैं पैसा, दो पैसा या इकन्नी जो भी कुछ पास होता, उसके हाथ पर रख देता। वह सलाम करता और चला जाता। अक्सर उसका छोटा भाई और उसकी माँ भी आस-पास ही होते थे।

एकाध बार मकान के कुछ भाड़ेतियों ने मुझे रतनलाल को छूते-बतलाते देखा, तो ज़रा चौंके। कुछ तो नाक भी सिकोड़कर रह गये और कुछ कानाफूसी करने लगे। एक मोटे-ताज़े सेठजी, जिनसे आते-जाते कभी-कदास दुआ-सलाम हो जाती थी, एक दिन बुरी तरह बिगड़े। बोले—'बाबू साहब, आप पढ़ये-लिख्ये होकर उस मेहतर के लड़के कूँ छूते हो। ये बड़ी अपसोच की बात है।' मैं बिना पढ़े-लिखे होकर भी पढ़े-लिखों की भर्त्सना करने के सेठजी के अधिकार को चुनौती न देकर चुप ही रह गया।

४

मेरे देखते-ही-देखते रतनलाल बड़ा होने लगा। उसका भाई भी बड़ा होने लगा। कालान्तर में उसके दो भाई और हुए। ये सब बच्चे जूठा-बासी खाते थे। कोई इनकी देख-सँभाल करनेवाला भी न था। फिर भी मैंने देखा कि ये सेठ-साहूकारों के उन बच्चों से कहीं अधिक स्वस्थ थे, जिन्हें खाने-पीने को अच्छा-से-अच्छा मिलता था और हर वक्त नौकर-दाई जिनकी हाज़िरी में रहते थे। जब रतनलाल ९-१० बरस का हुआ, तो एक दिन मैंने उसकी माँ से पूछा—'इसे कुछ पढ़ाओ-लिखाओगी नहीं?'

'ना बाबू'—भंगिन ने सहज भाव से कहा—'हम कमीने लोग पढ़-लिखकर क्या करेंगे? आप जिजमानों का जूठा खाकर ही हमारा पेट पलेगा। पढ़ना-लिखना तो आप बड़े आदमियों का काम है।

बड़े आदमी !—वे ही न, जो न मालूम कितनों को छोटा बनाकर बड़े बने हुए हैं ? और आश्चर्य तो मुझे तब हुआ जब कि अपने लिए 'कमीने लोग' का प्रयोग करके भी इस समझदार भंगिन को कोई आघात नहीं लगा, उसकी देह या ज़बान काँपी नहीं। तो गोया बड़े आदमियों ने इन नीच और कमीने लोगों की आत्मा तक को इतना गिरा दिया है कि आज स्वाभिमान जैसी कोई चीज़ इनमें रह ही नहीं गयी है। जिन शब्दों को सभ्य और उन्नत समाज में गाली समझा जाता है, वे मानो इस गिरी हुई इन्सानियत के प्रतीक या पर्याय बन गये हैं। अपने विचारों के आवेग को रोककर मैंने भंगिन से कहा—'अरे, पढ़-लिख कर यह बेहतर इन्सान बनेगा। इसमें हर्ज ही क्या है ?'

'सो तो आप ठीक कहते हैं, 'बाबूजी; पर हम ग़रीबों के पास इतना पैसा कहाँ कि बच्चों को पढ़ा सकें। पेट भर जाय, यही गनीमत है।'

बात ठीक थी। चोरी और बेईमानी से कलकत्ते के सैंकड़ों दलाल और आढ़तिये आज लखपती बन गये हैं। इस पैसे का ये कैसा दुरुपयोग करते हैं ; असहायों की इज्जत, ईमान और असमत तक ख़रीदते हैं और फिर भी लजाते-सकुचाते नहीं। पर इन बच्चों को इन्सान बनाने के लिए भी आज पैसा नहीं है। कई जगह धनिकों के कुन्द ज़हन बच्चों को पास करवाने की क़वायद कराने के बहाने अलग-अलग विषयों के अलग-अलग मँहगे अध्यापक 'पढ़ाने' आते हैं। पर इन बच्चों के लिए न तो कोई स्कूल है और न मास्टर ही। ये मानो स्वस्थ और कुशाग्र-बुद्धि होकर भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी पाख़ाना साफ़ करने और झाड़ू देने की विरासत सम्हालने को ही पैदा होते हैं।

ऊपर पहुँचते ही बहन ने शिकायत की—'भैया, यह मेहतरानी बड़ी बदमाश है। एक तो काम ठीक से नहीं करती, फिर ऊपर से रोज़

तनख़्वाह बढ़ाने के लिए कान खाती है।'

मैंने विवर्ण मुख से बहन की तरफ़ देखा। मेरा चेहरा देखकर शायद वह कुछ सहमी और फिर अपने-आप सफ़ाई देते हुए बोली— 'पहले १॥) महीना देते थे न; सो मैंने आते ही २) कर दिये। अभी पिछले महीने ही तो २॥) किये हैं और आज कह रही थी कि इतने में गुज़र नहीं चलता। इन नीचों का भी कितना दिमाग़ चढ़ गया है।'

'उससे कह दो कि अगले महीने से ४) मिला करेंगे'—मैंने कहा और कपड़े बदलने अपने कमरे में चला गया। पीछे से बहन की बड़बड़ाहट सुनाई दी—'नीचों को ज़्यादा सिर चढ़ाना अच्छा नहीं। देखना, कभी इसका नतीजा।'

मेरा दिमाग़ चक्कर खाने लगा था।

४

जापान के हवाई आक्रमण के कारण जब कलकत्ते से भगदड़ मची, तो मैं भी बाहर चला गया। फिर उधर ही कारोबार के सिलसिले में कुछ ऐसा फँसा कि कई वर्षों तक कलकत्ते न लौट सका। रतनलाल, उसकी माँ और उसके भाइयों की जब-तब याद आती और साथ ही याद आती वह पाख़ाने के बराबर वाली तंग कोठरी, जो उनका 'घर' बनी हुई थी। ज़िन्दगी में बहुत कम लोगों ने मेरे मन पर इतनी गहरी छाप डाली होगी जितनी इस परिवार ने—और खासकर रतनलाल ने। उसके स्वस्थ-सबल शरीर और कुशाग्र-बुद्धि को देखकर कई बार मैं सोचता, काश इसे पढ़ने-लिखने और जीवन में समाज के लिए कुछ उपयोगी काम करने लायक़ बनने का अवसर मिलता! पर ··

एक दिन बहन के बच्चे की बीमारी का तार पाकर मैं हठात् कलकत्ते चला आया। मकान में दाख़िल होते ही मैंने पाख़ाने के

पासवाली कोठरी की ओर देखा। वह बन्द थी और उसके आस-पास कोई भी दिखाई नहीं दिया। सीढ़ियाँ चढ़ते समय मन मानो हर सीढ़ी और जँगले से रतनलाल उसके भाई-माँ के बारे में कुछ पूछने को अधीर हो रहा था। मैं भी समझ नहीं पा रहा था कि आखिर उसके लिए मेरे मन में इतना उन्स कब और कैसे पैदा हो गया। ऊपर पहुँचकर मैंने बहन से सबसे पहला सवाल यही किया—'वह पुरानी भंगिन और रतनलाल क्या अभी यहीं हैं?'

'उस कम्बख़्त का नाम न लो, भैया।'—बहन ने ज़रा उदासी-भरे स्वर में कहा और फिर चारपाई पर लेटे रमेश की ओर देखकर करुण स्वर में बोली—'उस डायन की वजह से ही तो बच्चे का यह हाल हुआ है। ज़रा इसका चेहरा तो देखो।'

मैं रमेश की चारपाई के निकट पहुँचा। वह सो रहा था, और कफ़ के कारण साँस ज़रा भारी चल रही थी। सूखकर उसका शरीर एकदम रक्तहीन और पीला पड़ गया था। मैंने उस पर से आँखें हटाकर बहन से पूछा—'क्या हुआ इसे?'

'यही तो मैं भी नहीं समझ पा रही। डाक्टरों की भी कुछ ठीक-ठीक समझ में नहीं आ रहा। मेरा तो पक्का विश्वास है कि हो-न-हो उस डायन की ही नज़र लगी है इसे भी।

'कौन-सी डायन?'

'अरे वही रतनलाल की माँ।'

मैं स्तंभित और क्षुब्ध हो उठा। बोला—'कैसी पागलपन की बातें करती हो तुम?'

'मैं ठीक ही कह रही हूँ, भैया। तुम नहीं जानते, वह डायन अपने चारों बच्चों को खा गयी। इस मकान के दो और बच्चे भी

उसने खा डाले । 'अब उस मुई की नज़र अपने रमेश···'कहते-कहते बहन रो पड़ी ।

मैं सन्न-सा रह गया। बहन के अज्ञान से भी अधिक दुःख हो रहा था मुझे रतनलाल की माँ के इस नये नामकरण और उसके अपने चारों बच्चों के 'खा' जाने की बात पर । मेरे लिए यह एक अजीब-सी गुत्थी थी । पर इस समय इसे सुलझाने की चेष्टा में समय खोना उचित न था । हाथ-मुँह धोकर मैं रमेश को दिखाने के लिए किसी अच्छे डाक्टर को लाने चल दिया ।

माकूल इलाज से रमेश ठीक होने लगा और कुछ ही दिनों में वह भला-चंगा हो गया । एक दिन उसे लेकर जब मैं नीचे उतर रहा था; तो सामने से रतनलाल की माँ आती हुई दिखाई दी । मुझे देखकर वह रुकी और सलाम कर कुछ टूटती-सी आवाज़ में बोली—'बड़े दिन बाद आये, बाबूजी । मज़े में तो रहे ? मैं तो बराबर बहनजी से आपके बारे में पूछती रहती थी ।'

भंगिन की बातें मानो बहरे कानों पर पड़ रही थीं, क्योंकि मैं उसके परिवर्तित रूप को देखकर कुछ आहत और हतबुद्धि-सा हो रहा था । कमर उसकी कुछ झुक चली थी । बाल खिचड़ी हो गये थे । चेहरे पर झुर्रियाँ पड़नी शुरू हो गयी थीं । आँखों में एक अजीब-सा विषाद घुलकर जैसे सूख रहा हो । मेरे काँपते हुए होठों से अचानक निकल गया···'रतनलाल कहाँ,'' और फिर सहसा यह याद कर मैं चुप ही रहा कि वह तो मर चुका है ।

भंगिन की आँखें भर आयीं । धोती के पल्ले से आँखें पोंछते हुए उसने कातर स्वर में कहा—'मालिक की मर्ज़ी, बाबूजी । ६-७ दिन बुखार आया, डांगदर की दवा भी दी; पर वह बच नहीं सका । उसके मरने

के ३-४ दिन बाद दूसरा बच्चा भी चलता बना। इसी तरह पिछले साल बाक़ी दो भी''''कहकर वह सिसकने लगी।

मेरे पास जैसे कहने को कुछ था ही नहीं। मेरी आँखों के सामने फिर वही पाख़ाने के पासवाली सील लगी तंग कोठरी नाच गयी और मैं सिहर उठा।

२

बलाई

उस दिन जेब में पैसे कुछ कम थे, अतः में चाय पीने किसी बड़े रेस्त्राँ में न जाकर एक छोटे-से केबिन में जा बैठा। एक खाली कुर्सी पर बैठ कर मैं किसी व्यक्ति के आने की प्रतीक्षा करने लगा। केबिन एक छोटी-सी लम्बी दुकान में था। दीवारों के पास-पास दोनों ओर मेज़ें रखी थीं, जिनके पास लकड़ी और लोहे की छोटी-छोटी कुर्सियाँ रखी हुई थीं। दुकान के पिछले हिस्से में टाट का एक 'पार्टीशन' लगा कर भीतर छोटी-सी भट्टी बनाई गई थी। चाय और टोस्ट आदि इसी पर तैयार होते थे। समूचे केबिन में धुआँ, अन्धेरा और बन्द हवा ने मिल कर दम घोंटने की पूरी तैयारी कर रखी थी। ऐसे वातावरण में बैठने का अभ्यस्त न होने के कारण मैंने जल्दी छुट्टी पाने के ख़्याल से एक कोने में मेज़ के किनारे बैठे एक बाबू को संबोधित करके कहा--'मैनेजर बाबू, कोई आदमी नहीं है क्या?'

'आच्छे'—कहकर उन्होंने टाट वाले पर्दे की ओर देखकर पुकारा—'ओरे बलाई, ऐतो देरी केनो?'

'जाई बाबू, होए गैचे'—टाट के पीछे से आवाज़ आई।

अपने उचटते हुए धैर्य को जैसे-तैसे चाय की आशासे रोकते हुए मैंने फिर इधर-उधर देखना शुरू किया। पर वहाँ देखने को था ही क्या? दीवार पर नए-पुराने दो तीन केलेंडर टँगे थे, और एक शीशे पर सुन-

हरी अक्षरों में लिखा था---'उधार माँग कर कृपया हमें लज्जित न करें !'

अभी मेरी आँखें केबिन की दीवारों का पर्यवेक्षण ही कर रही थीं कि टाट का पर्दा एक ओर से हटा और दोनों हाथों में कोई ६-७ कप चाय के लिए हुए लगभग ८-९ वर्ष का एक काला-कलूटा लड़का बाहर आया। उसके सिर के घने, काले किन्तु छोटे बाल तेल से तर-ब-तर थे। इस तेल का असर उसके ललाट पर भी साफ़ झलक रहा था। सारा शरीर उसका नंगा था। वह केवल एक काली निकर पहने था, जिसका नारा फूले हुए पेट पर बड़ी बेरहमी से कसकर बँधा हुआ था। चेहरे पर उसके कोई भाव न था। सारा शरीर उसका ऐसा रूखा-सूखा था, जैसे बिना पानी के कोई सुकुमार पौधा असमय ही मुरझा रहा हो। अपने हाथ के प्यालों को वह विविध मेज़ों के इर्द-गिर्द बैठे आदमियों के सामने आर्डर के क्रम को याद कर-करके रखता जा रहा था। मेरे सामने भी उसने एक प्याला लाकर रख दिया और आधे ही क्षण बाद जैसे कुछ याद करके उसे उठा कर सामने-वाली मेज़ पर बैठे आदमी के सामने जा रखा। फिर मेरी ओर मुड़ करके पूछा---'बाबू आपनाके की चाइ ?'

'हमें भी एक कप चाय दो'—मैंने हिन्दी में ही कहा। उसने बड़े कौतूहल से मेरे चश्मे को ग़ौर से देखते हुए यंत्रवत् दोहरा दिया—'एक कप चाय।' और फिर सहसा जैसे कुछ याद करके बोला—'शुदू एक कप चाय ? आर की नेबेन ?'

'हम बँगला नहीं समझते, हिन्दी में ही बताओ और खाने का क्या-कुछ है ?'

'ओः आपनि हिन्दुस्तानी बूझी ?' तनिक मुस्कराहट के साथ वह बोला और फिर बड़े आश्वस्त स्वर में कहा—'आपनी बँगला कथा नहीं

बूझता ? आर टोस्ट होगा, आर केक ।'

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही देखता हूँ कि एक बाबू की क्रुद्ध दृष्टि बलाई को दूसरी मेज़ की तरफ़ खींच ले गई । वे पहले बलाई और फिर मैनेजर की ओर मुख़ातिब होकर साक्रोश कह रहे थे—'खाली बैठे-बैठे मुझे पूरा एक घंटा हो गया, पर न टोस्ट का कहीं पता है, न चाय का ही ठिकाना ।'

एक ओर से दूसरी आवाज़ आई—'बलाई, आमार चाय कोई ? कोतो देरी बोसे थाकबो, बाबा ?'

दूसरी ओर से किसी ने पुकारा—'बलाई, आमार टोस्ट की होलो ?'

जिस-जिस तरफ़ से आवाज़ आती, बलाई की आँखें उस-उस तरफ़ घूम जातीं, और फिर टाट के पर्दे की ओर घूमकर वह गला फाड़ कर चिल्लाता—'एक कप चाय । एक खाना टोस्ट । दू खाना टोस्ट । मोट दू कप चाय ।' इसके बाद वह मेज़ों की दोनों कतारों के बीच से डुड़की सी लगाता हुआ टाट के पर्दे के पीछे गायब हो जाता, और थोड़ी ही देर बाद फिर वही हाथ में ५-७ चाय के प्याले या ४-५ टोस्ट की प्लेटें लिए हुए आता, और उन्हें आर्डर के क्रम से जहाँ-तहाँ रख देता । मेरी तो यह समझ ही में नहीं आ रहा था कि इतने आदमियों की फर्माइश अकेला बलाई इस खूबी के साथ कैसे याद रखता और पूरी करता है ! इस छोटे-से केबिन में जैसे वह फिरकिनी की तरह निरन्तर घूमता ही रहता है । फिर भी उसके पाँव नहीं थकते, गला नहीं बैठता और चेहरा म्लान नहीं होता । उसकी उम्र और देह को देखकर मुझे याद आई उन्नीसवीं सदी के इंग्लैंड के कारखानों में पिसने वाले ऐसी ही बच्चों की, जिनकी अवस्था सुधारने के लिए लार्ड शेफ्ट्सबरी ने आन्दोलन किया था । तो हम अभी उन्नीसवीं सदी में ही रह रहे हैं—और गिला इस बात का है कि हमारे देश में इन अभागों के शोषण-

पीड़न को देखने-सुधारने वाला कोई शेफ्ट्सबरी नहीं !

इसी समय बलाई ने आकर मेरी भाव-धारा भंग कर दी। मुक्त हास्य के साथ वह बोला—'बाबू, आपको ऑर्डर लेना तो भूल ही गया। केक खावेन, खूब टाटका, भालो।' बलाई की मुख-मुद्रा देखकर मैं जैसे 'न' नहीं कह सका। मेरे मुँह से अनायास 'हाँ' निकल गया और बलाई दौड़ कर एक प्लेट में केक रख लाया। इसके बाद टोस्ट, चाय आदि जो-जो वह कहता गया, मैं केवल 'हाँ' कह सका। वह लाता गया और मैं वह सब खाता गया। चाय पीकर मैंने पैसे पूछे और उनके अतिरिक्त एक इकन्नी बलाई को चाय पीने के लिए देकर खड़ा हुआ। बलाई ने इकन्नी को हँस कर कान में टाँक लिया। मैं भी हँसा। देखा बलाई के कान के ऊपर कनपटी और कान के बीच की जगह में एक अधजली बीड़ी टँकी है। मैंने पूछा—'तुम अभी से बीड़ी पीने लगे ?' सहज भाव से बलाई ने कहा—'हाँ' और ख़ाली प्याला तश्तरी लेकर टाट के पर्दे की ओर चला गया।

यह एक साधारण-सी घटना थी। रोज़ उस केबिन में कितने ही आदमी चाय पीने आते थे। पर शायद ही कभी किसी ने बलाई को इतने ध्यान से देखा हो। मैंने भी न जाने अब तक कहाँ-कहाँ चाय पी होगी, पर पिलाने वाले की ओर इतने ध्यान देने का शायद ही कभी मौका आया हो। परन्तु बलाई ने मेरे मन पर कुछ ऐसी छाप डाली कि चाहने पर भी मैं उसे भुला न सका। आँखों ने मन पर जैसे उसकी एक अमिट-सी छवि आँक दी।

और उस दिन के बाद से तो वही केबिन मेरा चाय पीने का एक-मात्र अड्डा बन गया। चाय पीने से ज़्यादा इसमें हेतु था बलाई और उससे बातें करने की बढ़ती हुई उत्कण्ठा। मुझे देखते ही बलाई आता और यंत्रवत् दोहरा देता—'आपनी की खावेन ?' और मेरे कानों में

उसकी पहली मुलाक़ात के वे शब्द गूँज जाते—'ओः आपनी हिन्दुस्थानी बूझो।' मैं जैसे उसके मुँह से बाल-सुलभ सरलता तथा चपल आश्चर्य के साथ कहे गए इन शब्दों को उसी के मुँह से एक बार फिर सुनने को उत्सुक हो उठता, पर फिर कभी उसने वैसा नहीं कहा। मैं उसे सिर्फ खोका न कह कर हँसी में 'खोका बाबू' कहने लगा और वह मुझे 'हिन्दुस्थानी बाबू' इस तरह हमारी दोस्ती पक्की हो गई।

एक दिन जब मैं केबिन में पहुँचा, तो वह ख़ाली-सा था। लोग अभी आने नहीं लगे थे। बलाई मक्खन और डबल रोटी की आल्मारी के सामने पड़ी बेंच पर बैठा भाव-शून्य-सी मुद्रा से दीवार पर आँखें गड़ाए पता नहीं क्या पढ़ने या याद करने की कोशिश कर रहा था। मैं जाकर एक कुर्सी पर बैठ गया। मेरे आने की जैसे उसे कोई आहट नहीं हुई। आख़िर मैंने ही पुकारा—'बलाई, नहीं खोका बाबू!' बलाई ने दीवार पर से आँखें हटाकर मेरी ओर देखा और ज़रा-सा मुस्कराया। फिर एक अंगड़ाई लेकर उठा और मेरे पास आकर बोला—'आप कैसे हैं, बाबू? अच्छे तो हैं? आज इतनी जल्दी कैसे?'

मैंने सहज भाव से कहा—'वैसे ही फुर्सत थी, चला आया। अभी तो कुछ बना नहीं होगा। एक कप चाय ही दे दो।'

बलाई बिना कुछ कहे यंत्रवत् घूम गया और चाय लाने चला गया। थोड़ी देर बाद वह चाय लेकर लौटा और प्याला मेरे सामने रखकर दीवार के सहारे मेरी मेज़ के पास ही खड़ा हो गया। कुछ खोजती हुई-सी मेरी आँखें उसकी ओर उठीं और मैंने काफ़ी संकोच किन्तु साहस के साथ कहा—'अच्छा बलाई, पता नहीं क्यों तुम्हें देखकर तुम्हारे बारे में कुछ जानने की उत्सुकता होती है। कुछ बताओगे अपने बारे में?'

'क्या'—उसने अनायास कहा।

'तुम कहाँ के रहने वाले हो?'

'पता नहीं।'

'मेरा मतलब है तुम्हारा देश, तुम्हारा घर, कहाँ है?'

'मालूम नहीं!'

'यह तो बड़ी अजीब-सी बात है। तुम्हें अपने घर-देश तक का पता नहीं।'

मैं आगे कुछ कहूँ इससे पहले ही बलाई ने बुज़ुर्गाना लहज़े में कहा—'अजीब भला क्यों है? जब मैं कलकत्ता लाया गया, तो मेरी उम्र सिर्फ़ तीन वर्ष की ही तो थी।' फिर केबिन के एक कोने में एक छोटी-सी मेज़ के सहारे बैठ एक दुबले-पतले वृद्ध सज्जन की ओर इशारा करके उसने कहा—'विश्वास न हो, तो बाबा से पूछ लें। इन्होंने मुझे दस रुपये में खरीदा था।'

ख़रीदा था! मैं हक्का-बक्का रह गया। माजरा कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मेरी आँखें बरबस मैनेजर बाबू की ओर घूम गईं। उनका सूखा-मुरझाया सा चेहरा सुबह के अख़बार पर झुका था। उन्हें कष्ट देना उचित न समझ मैंने बलाई की ओर देखा और कहा—'नहीं, नहीं, हमें तुम्हारी बात पर पूरा विश्वास है। हाँ, तो यह बताओ कि तुम्हारे मां-बाप ने तुम्हें बेचा क्यों?'

'अरे महाशय, बेचते नहीं तो क्या करते? खाने को जो नहीं मिल रहा था।'

'खाने को क्यों नहीं मिल रहा था?'

'फिर वही क्यों? अरे, आपने १३५० के मन्वन्तर यानी १९४३ के अकाल का हाल सुना है? उसी में हमारे गाँव के अनेक लोग पेट

की भूख मिटाने को कलकत्ता चले आये। इसमें मैं, मेरी मां और बाप भी थे। बाप ने तो कलकत्ता पहुँचते-पहुँचते दम तोड़ दिया और मुझे भूख से सूखता देखकर मां ने मैनेजर बाबू के हाथ बेच दिया।'

'और तुम्हारी माँ का क्या हुआ?'

'उसने भी अपने आपको बेच दिया।'

'बेच दिया अपने-आपको? किसके हाथ?'

'मालूम नहीं।'

'मालूम नहीं? तुम समझते हो तुम क्या कह रहे हो?'

'हाँ, खूब समझता हूँ।' फिर कुछ दबी-सी आवाज़ में वह बोला—'उसने कहा है कि वह कोई ख़राब काम करती है, इसलिए मैं किसी से कुछ कहूँ नहीं, नहीं तो मुझे कोई रखेगा नहीं। भला फिर मैं खाऊँगा क्या?'

मुझे जैसे साँप सूंघ गया। अब कुछ-कुछ समझ में आया कि १६४२ का बंगाल का जो अकाल धनिकों (नाजचोरों) का धन और चरबी बढ़ा गया, समाज में कैसी विरासत छोड़ गया है? मुझे सोचता देखकर अलाई का चेहरा कुछ फीका पड़ा और उसने आँखों में पानी भरकर आजिज़ी के साथ कहा—'आप मेहरबानी करके यह बात मैनेजर बाबू से मत कहिएगा, नहीं तो मेरी चाकरी...'

'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं होगा।'

'तुम्हें वेतन क्या मिलता है?'

'महीना? पहले ढाई था, अब तीन है। साथ में दो जून भात और दिन में दो हाफ़-कप चाय।'

अभी मैं और कुछ पूछने वाला था कि मैनेजर बाबू ने अख़बार पर से मुँह उठाकर कर्कश स्वर में कहा—'देखो, बेटा लाट साहब बना

आराम से खड़ा-खड़ा गप लड़ा रहा है। क्यों रे, मेज़-कुर्सी साफ़ करने का काम क्या तेरा बाप करेगा ? देखता नहीं, सात बज चुके हैं।'

भयातुर बलाई के मुँह से निकला—'जाच्ची बाबू' और वह दूसरी तरफ़ चल दिया। चाय के पैसे चुका कर मैं भी चला आया।

× × ×

ट्राम से उतर कर बलाई एक गली में घुस गया। वह काफ़ी तंग और अँधेरी-सी थी। मैं चुपचाप उसके पीछे-पीछे हो लिया। कुछ क़दम चलने के बाद वह एक पुराने और छोटे-से मकान के सामने रुका और दरवाज़े पर दस्तक दी। ऊपर की वन्द खिड़की खुली और किसी ने पूछा 'कौन ?'

बलाई ने मुँह ऊपर करके कहा—'मैं बलाई हूँ।'

'इस समय अचानक कैसे, बाबा ?'

'वैसे ही चला आया। साथ में एक हिन्दुस्तानी भद्र लोग भी हैं। वे तुम से बात करना चाहते हैं।'

'हिन्दुस्तानी भद्र लोग ! मुझसे क्या बात करेंगे ?'

बलाई चुप रहा। मैं कुछ कहूँ, तब तक ऊपर से आवाज़ आई—'अच्छा, ठहरो, खोलती हूँ,' मैं कुछ आश्वस्त हुआ।

कुछ क्षण बाद दरवाज़ा खुला और मैंने सामने हरीकेन लिए एक महिला को खड़े पाया। उसने कहा—'भीतर आ जाइए।' पहले बलाई और फिर मैं भीतर चले गए। उसने दरवाज़ा बन्द किया और सीढ़ी की ओर हरिकेन करते हुए कहा—'ऊपर चलिए।'

बिना कुछ कहे मैं ऊपर चढ़ने लगा। पीछे-पीछे वह महिला और बलाई भी चढ़ने लगे। ऊपर पहुंच कर कमरे में बिछे गद्दे की ओर इशारा करके महिला ने कहा—'बैठिए।' मैं बैठ गया। उसने हरीकेन

कमरे के द्वार के पास रख दी और गद्दे के एक कोने पर मेरे सामने बैठते हुए बड़ी तीखी निगाह से मेरे चेहरे का निरीक्षण करना शुरू किया। तनिक हतप्रभ होकर मैंने कहा—'मैं किसी बुरे इरादे से आपके पास नहीं आया हूं। मैं···'

बीच ही में मेरी बात काटकर उसने कहा—'तो सुनूं, आख़िर आपका अच्छा इरादा क्या है ?'

'वही कह रहा हूँ। मुझे यहाँ लाने और आपकी असली वस्तु-स्थिति बताने के लिए आप बलाई को क्षमा करदें। मैंने ही उससे सब कुछ पूछा। उससे सारी बातें जान कर आपको देखने की उत्कट इच्छा हुई, इसी स चला आया।'

'ओ:'—एक व्यंग्थ-भरी हँसी के साथ उसने कहा—'तो देख लिया न मुझे! आपने समझा मैं कोई अजूबा हूँ ? भला सुनूं तो; और औरतों से मैं आपकी राय में किस प्रकार भिन्न हूँ ?'

मैं सचमुच सकपका गया। ज़रा सहम कर बोला—'मेरा मतलब सिर्फ़ आपकी शक्ल या शरीर देखना नहीं था। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि आख़िर आपने वह पेशा क्यों अपनाया ?'

'ज़ाहिर है—पेट के लिए। मैं पढ़ी-लिखी नहीं। कोई हुनर-दस्त-कारी नहीं जानती। फिर शरीर के सिवा मेरे पास दूसरों को देने लायक और चीज़ ही क्या है ?'

'आप और कुछ भी तो कर सकती थीं ?'

'क्या ? सामाजिक और अर्थनीतिक दृष्टि से पराधीन मुझ-सी निरक्षर नारी के लिए समाज के विधान के दायरे में विवाह और बाहर वेश्या-वृत्ति के सिवा उदर-पूर्त्ति का कौनसा साधन है ?'

मैं चुप रहा। मुझे चुप देख कर उन्होंने कहना जारी रखते हुए

कहा—'आपको दया आ रही होगी—मुझ पर और बलाई पर भी। पर महाशय, दया से आपकी धर्म की दुकान चल सकती है, पेट की ज्वाला शान्त नहीं हो सकती। मैं कोई बहुत खुशी से इस रास्ते पर नहीं आई। मैं कैसे कुलीन घराने की हूं, अब आपसे क्या बताऊं? वह कुलीन 'मैं' तो मर चुकी। आज तो उसकी लाश पर बैठी यह पतिता पाप और कलंक का व्यापार कर रही है। आपके जिस समाज ने, समाज के जिन नायकों ने और उसके जिन शासकों ने हमारे मुँह का कौर छीना, मुझ से मेरा पति छीना, पुत्र छीना और सत छीना, वह तो आज भी अक्षुण्ण है! हमारे हत्यारों की अनीति ने उनकी कीर्त्ति में चार चाँद लगा दिए हैं। इस चाँद में जो कलंक है, वह मुझ जैसी अभागिनों ने ही दिया है—अपने पाप का आह्वान और अभिशाप के रूप में। पर हमारे सिवा उसे शायद बहुत कम लोग देख पाते हैं। खैर, छोड़िए भी इन बातों को।'

यह कह कर महिला ने साड़ी के छोर से अपने आँसू पोंछे। मैं तो जान ही न पाया कि वह कब रोने लगी। उसके स्वर में एक उत्तेजना थी, एक तीखापन था, और थी एक विचित्र प्रकार की कटुता। एक क्षण के लिए मैं शशोपंज में पड़ गया कि अब क्या कहूँ। फिर मेरे मुँह से निकला—'क्या यह संभव नहीं कि आप किसी से विवाह कर सद्-गृहस्थ का जीवन बिताएं?'

कुछ क्षण वह चुप रही। फिर सिर नीचा किए हुए ही बोली, 'असंभव तो कुछ भी नहीं, पर शायद ऐसा होगा नहीं। बंगाल के हिन्दुओं को आप शायद जानते नहीं, नारी और नारीत्व की भले ही बलि हो जाय, पर वह समाज तो बना ही रहना चाहिए, जो अनीति और अन्याय की हिलती और ढहती हुई दीवारों पर टिकने का दुष्प्रयत्न

कर रहा है। पर क्या उसके पाप का बोझ, उसका आन्तरिक खोखलापन, उसे इस तरह अधिक दिन टिकने देगा?'

अब तो मेरे पास कहने को कुछ न रह गया था। मुझे मौन देख कर उसने अपनी डबडबाई आँखें मेरी ओर उठाकर काँपती हुई आवाज़ में पूछा----'आप मुझ से शादी कर सकते हैं?'

यह मेरे लिए एक चुनौती थी और थी थोथे आदर्शवाद और भावुकता पर एक करारी चपत। मैं क्या कहता? काश, मेरे मुँह से 'हाँ' निकल पाती! एक-एक क्षण के दण्ड और मेरे उत्तर की प्रतीक्षा में पलकें जैसे रुक-रुक कर आगे बढ़ रहे थे और मैं मौन था वह मौन, जो मृत्यु से भी डरावना और मिथ्या से भी ख़तरनाक है!

महिला ने बलाई की ओर देखकर डाँटने के स्वर में कहा----'मूर्ख लड़का! फिर कभी ऐसी ग़लती मत करना। कितना समझाया तुझे; पर तेरे तो जैसे अक्ल है ही नहीं।' और दूसरे ही क्षण मेरी ओर देखकर बोली—'आपको देर हो रही होगी फिर ट्राम-बस बन्द हो जायगी।'

मैं उठा और नींद में चलनेवाले व्यक्ति की तरह उतर कर सड़क पर आ गया और फिर ट्राम में बैठ कर घर। इस घटना के बाद फिर कभी मुझे बलाई से बात करने का साहस नहीं हुआ।

३

कुल की लाज

यह कोई ढंग से बनाया हुआ शरणार्थी कैम्प नहीं था। वर्षों से ख़ाली पड़ी ज़मीन पर पूर्वी बंगाल से आये सर्वहारा-वस्तुहारा परिवारों ने बाँस और चटाई के अस्थायी 'घर'-भर खड़े कर लिये थे—किसी तरह हवा और पानी से बचने के लिये। पर सुना, आस-पास वाले बाबू लोगों को गन्दगी फैलानेवाले इन अवाँछनीय और अनधिकारी आगन्तुकों की यह ज़्यादती अधिक दिन सहन नहीं हो सकी और उन्होंने अपने क़ानूनी अधिकारों की दुहाई देकर इन्हें ज़मीन के ग़ैर-क़ानूनी कब्ज़े बेदख़ल करने के लिये पुलिस की मदद माँगी। पहले उसने शरणार्थियों को समझाने की चेष्टा की और फिर अश्रु गैस तथा बल-प्रयोग का सहारा लिया। पर शरणार्थी नहीं माने, सो नहीं ही माने।

पिछले कुछ दिनों से कलकत्ते के उपनगर रीजेंट-पार्क में पुलिस और शरणार्थियों की यह मुठभेड़ एक दैनन्दिन-सी बात हो चली है। आज सूर्यास्त के समय फिर इसी अप्रिय काँड की पुनरावृत्ति हुई। अभी-अभी न-जाने क्या सोचकर पुलिस लौट गई है। शरणार्थियों के रहने के कई झोंपड़े अभी भी जल रहे हैं और चारों ओर धुआँ बनकर अश्रु-गैस भी फैली हुई है। उत्तेजित शरणार्थी टोलियाँ बाँध-कर जगह-जगह खड़े हैं। धीरे-धीरे बढ़ता हुआ अँधेरा मानो इस कुरूपता को आदमी की आँखों से ओझल करने का प्रयास कर रहा है।

सुरेन भट्टाचार्य आँखें पोंछते हुए अपने झोंपड़े की ओर बढ़े। यद्यपि उन्होंने न तो पुलिस पर पत्थर फेंके थे और न कहीं आग ही लगायी थी, पर आज के कांड से उनका मन बड़ा खिन्न और उदास हो रहा था। आये दिन का यह झंझट, न काम का ठिकाना, न खाने पीने का पता—आख़िर कब तक जीवन की इस अर्थहीन विडम्बना को जीवित रखना होगा? यंत्रवत् पाँव उन्हें अपने झोंपड़े के द्वार तक ले आये। सामने वही रोज़वाला पेटेंट दृश्य था। एक उल्टे हुए पुराने कनस्तर पर रखी किरासन की डिबरी मन्द-मन्द जल रही थी। पास ही फटी चटाई के एक टुकड़े पर पड़ा छोटा बच्चा हाथ-पाँव मार-मार कर बुरी तरह चिल्ला रहा था। अपनी निराशा, खीझ और क्षोभ का भार स्त्री पर हल्का करने की चेष्टा करते हुए सुरेन बाबू गरज पड़े—"अपने इस बाप को तो चुप कर। जान खाये जा रहा है। जहाँ जाता हूँ, अशांति ही अशांति। एक क्षण की भी शांति और विश्राम लेने के की गुंजाइश नहीं। जान पड़ता है कि तुम लोग सब मिलकर मेरी जान ही लेकर रहोगे।"

मूर्ति सी अचल बैठी उनकी स्त्री ने वितृष्ण दृष्टि से एक बार बच्चे की ओर देखा और फिर बिना कुछ कहे बच्चे को गोद में लिटाकर अपना सूखा स्तन उसके मुँह में दे दिया। एक क्षण को बच्चा चुप हुआ। पर स्तन में दूध ही कहाँ था, जो उसके पेट की ज्वाला शांत होती। अतः वह फिर कुड़कुड़ाने लगा। उसके रोने की आवाज़ से पिता का मन और ख़राब न हो, अतः माँ ने स्तन और हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया।

सुरेन बाबू को कुछ क्रुद्ध देखकर बाक़ी तीनों बच्चे—दो लड़कियाँ और एक लड़का—मानो सकते की अवस्था में आ गये थे। हक्का-बक्का

हो, वे दीवार से ऐसे सटे खड़े थे, मानो दीवार पर तीन कुरूप चित्र बने हों। फटे हुए टाट के एक टुकड़े को पाँव से ठीक-ठाक कर ज्यों ही सुरेन बाबू बैठे, उनकी दृष्टि जीवन के प्रश्न-चिन्ह बने खड़े इन बच्चों पर पड़ी और झल्लाकर वे फिर गरज उठे—"खड़े खड़े क्या मेरी शक्ल देखते हो, हतभागो, बैठ जाओ।"

और फौजी क़बायद में दिये जानेवाले आदेश के पालन की तरह ही सुरेन बाबू का वाक्य पूरा होते-न-होते तीनों बच्चे जहाँ के तहाँ बैठ गये। मन ही मन वे मानो अपना भाग्य सराह रहे थे कि आज बिना थप्पड़ या लात के ही बैठने का आदेश मिला था!

इसी समय किसी ने झोंपड़े के बाहर से आवाज़ लगायी—"भीतर कोई है क्या?"

"यह फिर कौन-सी नयी आफ़त आ गयी?—"कहते हुए कष्ट, क्षोभ और अवज्ञा-भरी मुद्रा बनाकर अपने आसन से उठते हुए सुरेन बाबू ने द्वार की ओर बढ़ते हुए पूछा—"कौन है? क्या बात है भाई?"

"कुछ नहीं, आपको ज़रा कष्ट देना है। ब्राह्मणबड़िया के श्री सुरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य आप ही हैं न?"—आगन्तुक ने कहा।

"हाँ, मेरा ही नाम सुरेन्द्रनाथ है। कहिये, क्या बात है?"

"मैं अपहृता महिलाओं के उद्धार-विभाग की ओर से आया हूँ।" कहकर आगन्तुक ने जेब में से एक फोटो निकाला और उसे सुरेन बाबू की ओर बढ़ाते हुए बोला—"शिवानी नाम की आपकी कोई लड़की थी क्या? देखिये, पहचानिये, यह चित्र उसी का है क्या?"

फोटो सहित आगन्तुक का हाथ अपनी ओर से दूर ठेलते हुए सुरेन बाबू ने कहा—"नहीं महाशय, आप ग़लत जगह पर आ गये जान पड़ता है। शिवानी मेरी कोई नहीं—यानी इस नाम की मेरी कोई

लड़की नहीं। मेरे चारों बच्चे मेरे पास ही हैं।"

और यह कहकर बिना आगन्तुक के कुछ कहने या जाने की प्रतीक्षा किये ही सुरेन बाबू बड़बड़ाते हुए झोंपड़े में लौट आये—"जितने चोर-बदमाश हैं, सब मानो मेरे पूर्व और इस जन्म के साथी ही हैं! जब देखो, कोई-न कोई सिर पर सवार रहता है, और वह भी नयी-नयी आफ़तें लेकर!"

बच्चे सहमे हुए जहाँ के तहाँ गुम-सुम बैठे थे। मूर्ति बनी बैठी उनकी स्त्री की गरदन सहसा हिली और दो निस्तेज, सजल, जलती हुई-सी आँखें सुरेन बाबू के क्लान्त और मुरझाये हुए चेहरे की ओर उठीं। सुरेन बाबू को ऐसा लगा मानो ये आँखें नहीं, रक्त, ज़हर घृणा, क्षोभ और विवशता के तेज़ाब से भरे दो कटोरे हैं, जिनसे निकल कर हज़ार-हज़ार विष-बाण मधु-मक्खियों की तरह उन पर टूट पड़ रहे हैं। दुर्बल, पराधीन और अभावग्रस्त नारी के इस सबल प्रतिकार के आगे टिक सकने की सामर्थ्य और अहम् शायद पुरुष-नामधारी सुरेन बाबू में नहीं था। अतः उन्होंने स्त्री की आँखों से दृष्टि हटाकर बाहर जाते हुए कहा—"देखूँ, कहीं से एक मुट्ठी चावल का जुगाड़ हो सके, तो चेष्टा करके देखता हूँ।"

सुरेन बाबू बाहर चले गये। दुर्बलता की प्रतिमूर्ति बनी उनकी स्त्री की आँखें झुक गयीं और उनके टप्-टप् आँसू बह चले। उसका हृदय मानो रो उठा और वह साड़ी के पल्ले से मुँह ढाँप कर सुब-कने लगी।

—२—

ट्राम से उतरकर सुरेन बाबू तेज़ी से कदम बढ़ाते हुए एक गली में घुस गये। गली सँकरी थी और दोनों ओर जहाँ-तहाँ पान-बीड़ी

की ही दूकानें अधिक थीं। बीच-बीच में दुतल्ले-तितल्ले मकानों के दरवाज़े थे, जिन पर सजी-सँवरी युवतियों के झुंड राहगीरों के लिये आँखों में आग्रह-आमन्त्रण भरे खड़े थे। कुछ दूर जाकर सुरेन बाबू एक दरवाज़े में घुसे और उनके पीछे-पीछे ही द्वार पर खड़ी एक युवती भी चली। भीतर पहुँच कर एक सहन था, जिसके चारों ओर कमरे थे। किसी के किवाड़ बन्द थे और किसी के बाहर पर्दा टँगा था तथा भीतर से गाने, हँसने और फुसफुसाने की आवाज़ें आ रही थीं। उत्तर-पूर्व के कोनेवाला कमरा खोलकर सुरेन बाबू उसमें घुसे और बिजली जलाई। युवती ने भी सहमे क़दमों से कमरे में प्रवेश किया। सुरेन बाबू ने भीतर से कमरे के किवाड़ बन्द कर लिये। उन्हें तेज़ी से हाँपता देखकर युवती ने कहा—"बाबा, आज आप इतने घबराये हुए क्यों हैं?"

अपनी उदास और क्षुब्ध आँखों से युवती की ओर देखते हुए सुरेन बाबू ने कहा—"घबराऊँगा नहीं तो क्या तेरे-जैसी कुलटा लड़की पाकर क्या चैन की वंशी बजाऊँगा?"

यह कहते-कहते उनका चेहरा क्रोध से तमतमा आया। युवती अभी समझ भी नहीं पाई थी कि आख़िर बात क्या है, इतने में ही सुरेन बाबू ने चादर में से अपना दाहिना हाथ बाहर निकाला, जिसमें एक तेज़ छुरा चमक रहा था। उसे देखते ही युवती के होश उड़ गये और उसके मुँह से एक दबी चीख़ निकल गई। दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँपकर वह सिसकने लगी।

"ख़बरदार, जो मुँह से एक भी शब्द निकाला तो। आज मैं तय करके आया हूँ कि तुझे जहन्नुम पहुँचाकर ही जाऊँगा, भले ही फिर मुझे फाँसी ही क्यों न हो।" कह कर सुरेन बाबू क्रोध से कांपने लगे।

युवती सुरेन बाबू के पाँवों में गिर पड़ी और गिड़गिड़ा कर बोली—"बाबा; अच्छी बात है, तो मुझे मार ही डालो। तुमने मुझे जीवन दिया है, तो मारने का अधिकार भी निश्चय ही तुम्हें है। पर ज़रा सुनूँ तो कि आख़िर सहसा यह शुभ निश्चय आज क्योंकर हुआ।"

सुरेन बाबू कुछ पिघले। उनका छुरेवाला हाथ शिथिल होकर झुक गया और गद्‌गद् स्वर में उन्होंने कहा—"शिबू, मुझे माफ़ करना बेटी, मैं पागल होता जा रहा हूँ। पर अभी इतना काफ़ी पागल नहीं हुआ हूँ कि हत्या कर सकूँ। पर बेटी, तुझे भी इतना समझाया-बुझाया और तू फिर वही पागलपन कर बैठती है?"

"पागलपन? कैसा पागलपन बाबा?"

"कैसा क्या; वही, जो पहले किया था। मैंने तुझे कितना समझाया-बुझाया कि किसी को भी मेरी लड़की कहकर अपना परिचय मत देना। पर तू शायद भूल गई उस बात को। आज शाम को ही तेरा फोटो लेकर अपहृता महिलाओं के उद्धार-विभाग का एक कर्मचारी आया था और पूछ रहा था कि शिबानी नाम की आपकी कोई लड़की थी क्या? भला तू ही बता, यदि तूने न बताया होगा, तो उसे यह सब पता कैसे चला?"

शिबानी की सजल आँखें पिता के चेहरे की ओर उठीं और दृढ़ स्वर में कहा—"मैं झूठ नहीं बोलूंगी, बाबा। मैंने कभी किसी से यह नहीं कहा कि मैं किसकी लड़की हूँ। जिस तरह आपके लिये आपकी शिबानी मर चुकी, उसी तरह मेरे लिये भी अब मेरे माँ-बाप कोई नहीं रहे। आपको शायद ग़लतफ़हमी हुई है।"

"अच्छा, यह तो ग़लतफ़हमी हुई और यह जो उस कायस्थ के लड़के ने जाकर गाँव-भर में ढिंढोरा पीटा है कि शिबानी दंगे में मरी

नहीं, पहले एक विधर्मी के यहाँ रही और अब कलकत्ते के एक वेश्या-पाड़े में रहती है, भला उसे यह सब कैसे मालूम हुआ ?"

"यह वही जाने, मैं क्या बताऊँ ?"

"ओहो, बड़ी भोली बनती है, जैसे रानी को कुछ पता ही नहीं ? तेरे सिवा उसे यह सब कौन बतायगा ?"

"बाबा, आप क्यों जले पर नमक छिड़क रहे हैं ?" वेदना और कसक-भरे स्वर में शिवानी ने कहा—"मैं कह जो चुकी कि मैं झूठ नहीं बोलती, आपके 'कुल की लाज' और समाज की मर्यादा बचाने के लिये ही तो मैंने इस नरक का जीवन स्वीकार किया। आपके समाज में मेरे लिए विधिवत् रहने की जगह नहीं, पर मेरे शरीर का उपयोग अभी आपके समाज के बहुत से चरित्रवानों और नैतिकता-वादियों के लिये अनिवार्य है। आज मैं रास्ते में बिकनेवाली ज़रूरत की और चीज़ों की ही तरह एक चीज़ हूँ। जो जितनी देर के लिये पैसा दे, उतनी देर के लिये मैं उसी की हूँ।

"बस, बस, यह बकवास बन्द कर। तू जो कुछ है, यह क्या मैं नहीं जानता ?, अगर तेरे दूसरे भाई-बहनों के विवाह का और समाज संबन्ध का प्रश्न न होता, तो क्या मैं ...."

"बस, अब आगे न बोलिये, बाबा ! आप समाज में इज्ज़त के साथ रहें, भाई-बिरादरी में कुलीन ब्राह्मण बने रहें और अन्य भाई-बहनों के अच्छी जगह शादी-सम्बन्ध करें, इसके लिये एक हतभागिनी लड़की की बलि भी देनी पड़े, तो क्या हर्ज़ है ? पर अच्छा होता, यदि आप मुझे अपने भाग्य के भरोसे वहीं छोड़ देते। क्या ज़रूरत थी मुझे फिर यहाँ लाने की—उस हिन्दुस्तान में, जिसके समाज में निःसहाय निर्दोष अबला के लिये अनिवार्य वेश्या-वृत्ति के सिवा और कोई स्थान

ही नहीं।"

सुरेन बाबू का चेहरा मुरझा-सा गया। गला साफ़ करके बोले—"अच्छा तो चलूं अब। पर ईश्वर के लिये फिर कभी किसी से......।

"हाँ, हाँ, नहीं कहूँगी"—कहते हुए शिबानी उठी और साड़ी के पल्ले से आँसू पोंछे। फिर सुरेन बाबू के हाथ से छुरा लेकर टाँड पर रखते हुए कहा—"इसे यहीं छोड़ जाओ। रास्ते में किसी ने देख लिया तो लेने के देने पड़ जायँगे। अच्छा बच्चे और माँ कैसे हैं? कहीं काम-धाम कुछ ठीक हुआ?"

"नहीं, यही तो रोना है। तेरी माँ और बच्चे भी मेरे साथ भूखों मरते हैं। और क्या करेंगे?"

बिना कुछ बोले शिबानी कमरे में बिछे पलंग की ओर बढ़ी और तकिया उठाकर उसके नीचे से कुछ नोट निकाल कर सुरेन बाबू के हाथ में देते हुए बोली—"अभी इनसे काम चलाएँ। शायद कभी ईश्वर हमारी भी सुनेगा!"

नोटों को लेकर सुरेन बाबू के हाथ की मुट्ठी तो बन्द हो गयी, पर उन्हें ऐसा लगा मानो 'कुल' और 'समाज' में अपनी नाक रखने के लिये कितना बड़ा मूल्य देकर उन्हें कितना छोटा प्रतिदान मिला है। और यह सोच कर जैसे उनकी उंगलियों की हड्डियाँ खुलकर बिखर जाने को बेबस हो उठीं। पर आघात और बेसब्री को पी लेने का अभ्यस्त बना उनका मन उन्हें ठेल कर फिर जीवन-पथ पर ले चला और गली के नुक्कड़ पर आकर वे फिर टालीगंज की ट्राम में सवार हो गये।

४

जोज़फ़

उस दिन जब घर बदलने को सारा सामान उतार कर ठेला-गाड़ियों पर लादा जा रहा था, तो मैं उसका विस्तार देख कर चौंक-सा उठा। थोड़ा-थोड़ा करके भी घर-गृहस्थी के नाम पर एक ख़ासा कबाड़-खाना जमा हो गया था, जिसकी ठीक-ठीक साज-सम्हाल करनी आज-कल के व्यस्त शहरी जीवन में संभव न थी। सबसे अधिक मोह मेरा पुस्तकों और पत्रों के प्रति था। किन्तु जब नई पुस्तकें पढ़ने को ही समय नहीं मिल पाता था, तब फिर पुरानी पुस्तकों को—जिनमें से बहुत का सामयिक महत्त्व अब प्रायः समाप्त-सा हो चला था—पढ़ने का समय निकालना तो नितान्त असम्भव था। और पत्रों के बंडल? बाप रे, वे तो जैसे समय-समय पर निकले नई-नई डिज़ाइन के पोस्टकार्डों, लिफ़ाफ़ों, चिट्ठी के काग़ज़ों, स्याहियों, निबों की लिखावटों आदि की एक ख़ासी अच्छी नुमाइश सी बन गये थे।

सोचा, इनमें कुछ कमी की जाय। पहले पुस्तकों को छाँटा, फिर पत्रों का नम्बर आया। बहुतों में आज महत्त्व की कोई भी बात दिखाई नहीं पड़ रही थी और बहुतों के लेखक इस संसार से कभी के विदा हो चुके थे। अतः मैंने एक-एक कर पत्रों को जहाँ-तहाँ सरसरी नज़र डाल तथा टुकड़े कर रद्दी की टोकरी में जमा करना शुरू किया। यह काम करते-करते जब हाथ और आँखें थक-सी चलीं, तो देखने का काम ज़रा ढीला तथा लापरवाही से और फाड़ने का फुर्ती से होने लगा।

एक पत्र को देखने से पहले ही मैंने फाड़ना शुरू किया ही था कि मानो आँखों ने बरबस हाथों को रोक दिया। बड़े-बड़े भद्दे अक्षरों में कापिङ्ग पेन्सिल से लिखे इस पत्र का काग़ज़ और लिखावट काफ़ी बद-रंग हो चले थे। उसके ऊपर न स्थान का नाम था, न कोई तारीख़ और न सिरनामा ही। याद नहीं आ रहा था कि यह पत्र किसका है और क्यों मैंने इसे सम्हाल कर रखा था। पत्र उलट कर दूसरी ओर देखा। पत्र के अन्त में मानो काग़ज़ की आत्मा में घुसने की चेष्टा करने को बड़ा ज़ोर देकर लिखा गया एक अक्षर था—'जे'। और सहसा मेरी आँखों के सामने जोज़फ़ की आकृति आ खड़ी हुई। मैं बड़ी उत्सुकता से पत्र पढ़ने लगा। पत्र इस प्रकार था—

"आपका पता अचानक आपके एक पुराने दोस्त से पाकर यह पत्र आपको लिख रहा हूँ। कितना व्यग्र था मैं आपको पत्र लिखने को; पर पता ज्ञात न होने से अब तक वह व्यग्रता अफ़सोस बनकर मनमें ही घुटती रही। मेरा पक्का विश्वास था कि अगर आपके प्रति प्रेम सच्चा है तो एक न एक दिन मैं आपको अवश्य ढूँढ निकालूँगा। पर आप हंसें नहीं मेरा यह पत्र पाकर। पत्र लिखना मुझे नहीं आता। एक तो कुछ पढ़ा-लिखा नहीं; दूसरे अब तक किसीको पत्र लिखनेका अवसर ही नहीं आया। और लिखता भी किसे, मेरा दुनिया में है भी कौन ? मैं तो बस आपको (इसके आगे लिखावट कागज़ के फट जाने और बदरंग हो जाने से ऐसी अस्पष्ट हो गई थी कि कुछ पढ़ा नहीं जाता था। फिर कुछ पंक्तियों के बाद लिखा था) मैं आपकी दया या सहानुभूति नहीं चाहता। ये मुझे ढोंग और कपटसे ही लगते हैं और इनसे व्यक्ति के स्वाभिमान को ठेस भी पहुँचती है। आप मेरे लिए कहीं कोई काम ठीक कर सकें, तो बड़ी कृपा होगी। हाँ, इतना ध्यान रखें कि अगर आप उधर ही कोई काम ठीक करेंगे तो यहाँ

से आप तक आने का रेल, भाड़ा मेरे पास नहीं है—और आप शायद जानते हों कि बिना टिकट मैं कभी सफ़र नहीं करता। भाभी को प्रणाम। बेबी को प्यार—जे०

पत्र समाप्त करते-करते आँखे भर आईं। पत्र को थामे हुए हाथ काँपने लगे। शरीर की सारी नसें झनझना कर मानो तन गईं और मैं कुर्सी का सहारा लेकर एक ओर लुढ़क रहा। जीवनके इन लम्बे ५० वर्षोंमें शायद ५० हज़ार लोगों के सम्पर्क में तो आया ही हूँगा। ये सबके सब तो बहुत निकट नहीं आसके, पर इनमें से परिजन और प्रियजनों की संख्या भी ५०० से तो क्या कम होगी? किन्तु इन सब में स्मृति के खाते में, मानस-पट पर, सबसे पहला; सबसे ऊँचा और सबसे नज़दीक स्थान था जोज़फ़ का। क्यों? यह कहकर बताना सम्भव नहीं। हृदयोंका मेल और सम्पर्क, मानसका वह मूक आदान-प्रदान, भाषाके माध्यम से पूर्णतया व्यक्त नहीं किया जा सकता। मैं अपने-आपको सम्हालूँ, इससे पहले ही मानो जोज़फ़-सम्बन्धी स्मृतियों की बाढ़-सी आ गई और मैं उसमें बह गया।

२

कोई २२ वर्ष पहले की बात है। याद नहीं किस कारणसे उस दिन गाड़ी मद्रास के एगमोर-स्टेशन पर बहुत लेट पहुँची। मैं, श्रीमती जी और बेबी जब प्लेटफार्म पर उतरे, तो देखा कि आस-पास कोई कुली नज़र नहीं आ रहा है। सामान काफ़ी था, अतः स्वभावतया हम चिन्तित हो उठे। अभी हम लोग कहीं से कुछ पूछने की प्रतीक्षा में ही थे कि आधी धोती का तहमत लपेटे और सफेद किंतु मैला हाफ़ शर्ट पहने एक काला-कलूटा नौजवान हमारी ओर आया। पास आकर उसने मेरी ओर देखा—मानो कुछ कहना चाहता हो, पर बोला कुछ नहीं। मैंने उसकी ओर देखा। उसकी गहरी काली आँखों में एक असाधा-

रण चमक थी और साथ ही एक प्रश्न सूचक भाव, एक खोयापन-सा भी। मैंने सहज भाव से पूछा—"कहिए, आप क्या चाहते हैं?"

वह शायद हिंदी नहीं समझता था। अतः अंग्रेज़ी में अपनी ओर से प्रश्न किया—"आप क्या कुली की प्रतीक्षा में हैं? मैं आपका सामान ले चलूँ?"

चेहरे-मोहरे से वह कुली-सा तो नहीं लगता था, अतः मैंने झिझक के साथ पूछा—"क्या आप कुली हैं?"

उसकी आँखोंकी दीप्ति में मानों दर्प झलक आया। झुँझलाकर उसने कहा—"नहीं, पर क्या मैं आपका सामान बाहर ले चलने में कुछ मदद कर सकता हूँ?"

सचमुच ऐसी मदद की ज़रूरत तो थी ही, फिर ऊपरसे रात चढ़ रही थी, अतः मैंने बिना और कुछ तकल्लुफ किये विनीत स्वरमें कहा—"हाँ, बड़ी कृपा होगी आपकी यदि आप हमारी कुछ मदद कर सकें।

उसने फुर्तीसे प्लेटफार्म पर बक्स अपने सिर पर उठा लिया, बिस्तरा बग़लमें दबाया और दूसरे हाथमें एक सूट केस ले लिया। फिर ज़रा नीचे झुकते हुए बोला—"वह काला बक्स मेरे सिर पर और रख दीजिये।"

मुझे शक था कि दोनों बक्स वह सिर पर कैसे ले जायगा? पर उसके स्वभावका जो थोड़ा-सा परिचय अभी-अभी मिला था, उसने मानो प्रतिवाद करनेसे मुझे सावधान कर दिया और मैंने बिना कुछ कहे काला बक्स उसके सिर पर लिये हुए बक्स पर रख दिया। वह सीधा खड़ा हुआ और प्लेटफार्म से बाहर निकलने के द्वार की ओर बढ़ते हुए बोला—"ये छोटी-मोटी चीज़ें आप लोग लेकर मेरे पीछे-पीछे आइये।"

हम लोगों ने वैसा ही किया।

बाहर आकर वह एक जगह रुका और सामान उतारनेसे पहले मेरी ओर देखकर पूछा—"कहाँ जाना है आपको ?"

"किसी होटलमें ही जाना चाहते हैं।"

"होटल में ? क्यों क्या आपका कोई मित्र-रिश्तेदार यहाँ नहीं है?"

"नहीं। हम लोग छुट्टियोंमें दक्षिणकी सैर करने आये हैं। एक-दो दिन मद्रासमें बिताकर फिर सुदूर दक्षिण चले जायँगे।"

"ओ ! तब आप यहाँ क्यों उतर गये, मद्रास स्टेशन पर ही उतरते। खैर, कोई बात नहीं चलिये।"

और बाहर सड़क पर आकर वह इधर-उधर देखने लगा। मैंने कहा—"टैक्सी तो मिलेगी वहाँ?"

"नहीं, घोड़ा-गाड़ी सस्ती रहेगी," उसने सहज भावसे कहा, "पास ही तो जाना है।"

थोड़ी देर बाद उसने अपनी भाषामें पाससे गुज़रने वाली एक घोड़ा-गाड़ीको रोककर कुछ बातें कीं और फिर सामान सहित हमें उस पर चढ़ाकर उसे चलनेका संकेत किया तथा स्वयं पीछे-पीछे पैदल चलने लगा।

सड़क पर यातायात काफ़ी कम हो गया था। श्रीमती जी और बेबी मूर्त्ति से बने चुपचाप बैठे इधर-झाँक भर लेते थे। अकस्मात् बिजली की तरह मेरे मनमें एक आशंका कौंध गई—कहीं यह कोई बदमाश न हो। शायद घोड़ा-गाड़ी वालेसे मिला हुआ हो और पता नहीं हमें कहाँ तथा किस लिए ले जा रहा हो ? अपनी चिंता मुझे नहीं थी, पर बेबी और श्रीमती जी के भविष्य की कल्पना कर मेरा दिल बैठने-सा लगा। पर अब चारा ही क्या था ? मैं अभी इसी उधेड़बुन में था कि हमारी गाड़ी एक होटलके सामने जाकर रुकी और घोड़ा-गाड़ी वाले से सामान उतारने को कहकर नौजवान होटल के भीतर चला गया।

थोड़ी देर बाद वह एक व्यक्तिको साथ लिए बाहर आया और बोला—"ये इस होटलके मालिक हैं। आपकी सारी व्यवस्था ये सन्तोषजनक रूप से कर देंगे। होटल के कमरे काफ़ी साफ़ और सस्ते हैं। अच्छा, तो मुझे अब इजाज़त दीजिये, क्योंकि मुझे पैदल ही अपने घर जाना है। रात काफ़ी हो गई है।"

मैंने होटल की व्यवस्था कर देने के लिए उसे धन्यवाद दिया और और पूछा—"और आपने यह जो कष्ट किया, उस सबके लिए ?"

"उसके लिए कोई उजरत या मेहनताना आपको नहीं देना होगा। मैंने जो कुछ किया, इन्सानियतके नाते अपना एक साधारण-सा फ़र्ज़ भर अदा किया है। मैं सुबह आपसे फिर मिलूँगा। अच्छा, नमस्कार।" यह कहकर उसने हाथ जोड़े, फिर क्रमशः मेरी; श्रीमती जी, बेबी और होटलके मालिककी ओर देख हँसते हुए थोड़ा-सा सिर झुकाया और तेज़ीसे क़दम बढ़ाते हुए चल दिया। मैंने देखा, उसके पावोंमें जूते नहीं थे।

ऊपर पहुँचकर हम लोगोंने खाना खाया, बिस्तर बिछाये और सोनेकी तैयारी करने लगे। श्रीमती जी ने विस्मय-भरी दृष्टिसे मेरी ओर देखते हुए कहा—"कुछ समझमें नहीं आया, अजीब-सा आदमी है। मुझे तो दाल में कुछ काला नज़र आता है। देखो, इसे ज़्यादा मुँह न लगाओ, वर्ना शायद कोई गहरी ठगाई होगी।"

मैंने निरपेक्ष भावसे श्रीमती जी की ओर देखा, पर बोला कुछ नहीं। इन्सान और इन्सानियतके प्रति, पता नहीं, हम लोग इतने सशंक और अविश्वासी क्यों हो गये हैं ?

बत्ती बन्दकर हम लोग सोनेका उपक्रम करने लगे। पर उस नौजवान का चेहरा बार-बार मेरी आँखों के सामने आने लगा। मैं अभी उसके पक्ष या विपक्षमें कोई प्रबल मत स्थिर नहीं कर सका

था, फिर भी उसकी सहज हंसी, काले चेहरेमें मोतियोंकी तरह चमकने वाले सफ़ेद दाँत और अगणित पहेलियोंका रहस्य लिये उसकी चमकीली आँखें मानों मुझ पर एक विचित्र-सा जादू बनकर छाये जा रहे थे। इसी उधेड़-बुन में पता नहीं कब नींद आ गई।

३

दूसरे दिन सुबह हम लोग उठकर हाथ-मुँह धोकर बैठे ही थे कि वह फिर आ गया। बेबीके लिए वह कपड़े की एक गुड़िया लाया था और हम दोनोंके लिए गुलाबके दो सुन्दर फूल। बग़लमें दबे मद्रास और साउथ मराठा रेलवेके टाइम-टेबुलको मेरे आगे बढ़ाते हुए वह बोला—"लीजिये, इसकी आपको ज़रूरत पड़ेगी।"

मैंने उसे धन्यवाद देकर टाइम-टेबुल रख लिया और उसे कुर्सी पर बैठने का इशारा करते हुए पूछा—"आप चाय लेंगे या काफ़ी?"

"नहीं, शुक्रिया, मैं अभी नाश्ता करके ही आ रहा हूँ," कहते हुए वह कुर्सीके सिर्फ़ अगले हिस्से पर ही कुछ ऐसे बैठा मानो इसे संकोच हो रहा हो। फिर अपनी सहज मुस्कराहटके साथ पूछा—"आपको यहाँ कोई कष्ट या असुविधा तो नहीं हुई?"

"नहीं, कुछ नहीं। होटलके मालिक बड़े भद्र व्यक्ति हैं। आपका तो उनसे पहले का परिचय होगा ही।"

"जी नहीं"—आँखें नीची करके वह बोला—"मेरी ऐसी स्थिति कहाँ कि होटलमें ठहरूँ? फिर उनके सम्पर्क में आता ही कैसे?"

उसकी स्पष्टवादिताने मेरी दृष्टि की जिज्ञासा-वृत्ति को बढ़ा दिया। मैंने पूछा—"क्षमा कीजियेगा, आपका कुछ परिचय तो हमें मिला ही नहीं। श्रीमती जी तो रातको ही मुझे बना रहीं थीं कि बड़े शिष्टाचारी बनते हो और उस भले आदमीका नाम तक नहीं पूछा!"

"नाम मेरा जोज़फ़ है"—सहज भाव से किन्तु गम्भीर स्वर में

उसने कहा—"और मैं त्रिवांकुर राज्यका रहने वाला एक ईसाई हूँ। पर नाम-ग्राम ही क्या मनुष्यका यथार्थ परिचय है ?"

बात साधारण औपचारिकता की ही थी; किन्तु सहसा उसने जो गम्भीरता इसे दे दी थी, उसने मुझे चौंका-सा दिया। पुस्तकोंके सिवा आज ऐसे व्यक्ति और बातें जीवनमें कहाँ देखने-सुननेको मिलते हैं ? मैंने कुछ और जानने की गरज़से पूछा—"तो मिस्टर जोज़फ आपका घराना कितनी पीढ़ियोंसे ईसाई है ?"

भौंहें कपाल पर चढ़ा कुछ याद करने की-सी चेष्टा करते हुए उसने कहा—"मैं नहीं जानता कि हमारे वंशमें कभी कोई ईसाई हुआ हो। शायद मैं ही पहला और अन्तिम व्यक्ति हूँ।"

इससे मेरी उत्सुकता और भी बढ़ी। दक्षिण-भारतमें ईसाई काफ़ी हैं, पर उत्तर-भारत में तो उनकी—और हम लोगों के सम्पर्क में आने वालों की संख्या बड़ी ही नगण्य है। मैंने पूछा—"तो आप किसी विशेष कारणसे ईसाई बने ?"

"नहीं, जब मैंने होश संभाला और कुछ समझने-बूझने लगा, तो अपने-आपको ईसाई ही पाया।"

"तो आपके माता-पिता ईसाई नहीं हैं ?

"नहीं, लेकिन वह एक अलग ही किस्सा है।"

मैं एक क्षण रुका कि शायद वह आगे कुछ कहेगा, पर जब वाक्य समाप्त कर वह मेरी ओर आश्वस्त दृष्टि से देखने लगा, तो मुझे ही बात-चीत का सिलसिला आगे बढ़ाना पड़ा—"आपको यदि कोई आपत्ति न हो, तो मैं वह सुनाना पसन्द करूँगा।"

"नहीं, नहीं, आपत्ति किस बात की ?"—ज़रा गम्भीरता से हंस-कर जोज़फ ने कहा—"पर वह कोई बहुत दिलचस्प किस्सा तो है नहीं। हमारे देश में प्रायः रोज़ ही घटनेवाली घटनाओं की ही एक

कड़ी मात्र है। हम लोग नायर हैं। पिता जी शायद आढ़त का काम करते थे। एक दुर्घटनामें उनकी मृत्यु हो गई—कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि किसी अज्ञात-रहस्य के कारण जमींदार ने उन्हें मरवा डाला। बाद में कहते हैं कि माँ का गाँव के एक ब्राह्मण से जिसे हम आप अनुचित कहते हैं, वैसा कुछ सम्बन्ध हो गया। गर्भ गिराने के लिए माँ पास के मिशन हस्पताल में गई। उन्होंने भ्रूण हत्या को पाप बता कर वैसे करने से इन्कार कर दिया और माँ को सुझाया कि यदि वह वहाँ रह कर प्रसव करे और बाद में बच्चे को मिशन को सौंप कर जहाँ चाहे चली जाय, तो सारी व्यवस्था वे कर सकते हैं। लोक-लज्जा से बचने को माँ ने यह स्वीकार किया। जो सन्तान हुई, वह आपके सामने है। माँ का मुझे न कोई पता ही है, न मैं उसे जानता पहचानता ही हूँ। मेरे माँ-बाप तो मिशन ही हैं।"

सहसा मेरी भावनाओं को एक आघात-सा लगा। अपनी माँ के बारे में कोई ऐसी बात एक अजनबी से कहेगा और अपने-आपको उसकी सन्तान घोषित करने में तनिक भी लज्जा, संकोच या झिझक नहीं महसूस करेगा, यह मेरे लिए कल्पनातीत-सा लगा। मेरे मुँह से निकला—"जो ब्राह्मण अछूतों अथवा अब्राह्मणों की छाया तक से बचते हैं, वे सामाजिक सम्बन्ध के बजाय इस तरह के अनुचित और असामाजिक सम्बन्ध कैसे ..."

"इसमें आश्चर्य की क्या बात है? यह तो हमारे प्रचलित धर्म और समाज की बलिहारी है! दक्षिण में आपको धर्म और वर्ण-श्रेष्ठता की ओट में होने वाला यह अमानवीय, कपटाचरण बहुत मिलेगा। और यहीं क्यों, आपके सभ्य संसार में जनतन्त्र के गढ़ अमरीका तक में अनेक नीग्रो-बस्तियां गोरे नौजवानों के लिए विवाह-पूर्व के यौन प्रयोगों एवं अनुभवों के केन्द्र बनी हुई हैं। उन्हें कोई भी बुरा नहीं कहता।

मेरे मुँह से कोई शब्द न निकला। चित्र-खचित-सा मैं निर्निमेष दृष्टि से जोज़फ के चेहरे की ओर देख रहा था। साधारण परिचय की बात-चीत ने सहसा सभ्य संसार की एक बहुत बड़ी कुरूपता के नग्न सत्य को उघाड़ कर सामने रख दिया था। मैं विचार-मन्थन में जा फंसा। शरीर का नंगापन आदमी कपड़े के आवरण से ढँक सकता है, पर सदियों से चले आये उसकी अमानवीयता, निकृष्ट पशुता, कपटाचरण, विचार और आदर्श के व्यभिचार और मानव की गरिमा को कलंकित करने वाले इस अनाचार के नंगेपनको क्या खोखले आदर्शों. आप्त-वाक्यों, धर्म-पुराण के आडम्बर भरे उद्धरणों और सभ्यता-संस्कृति के मुलम्मे से ढंका जा सकता है? 'शैतान' या 'दस्यु' शब्द का अर्थ-विस्तार भी कल्पना के सहारे शायद निकृष्टता और पतन की उस सीमा तक न पहुँच सके, जहाँ से कहीं अधिक नीचे यह मानव-नामधारी नराधम पहुँच चुका है। जोज़फ की माँ की साथिनें आज लगभग सभी देशों में हैं, पर उनके पतन को सामाजिक पिछड़ेपन और अर्थनीतिक विषमता के बटखरों से तोलने के सिवा मानो आज के समाज-शास्त्री, आचार-शास्त्री और नैतिकतावादी के पास कोई विश्लेषण-विकल्प नहीं है। और यही इस युग की उजली सभ्यता का सबसे काला धब्बा है।

४

एक तो जोज़फ़ के प्रति मेरा विशेष आकर्षण हो चला था, दूसरे उसे भी कोई खास काम तो था नहीं, अतः हमारे अनुरोध पर उसने हमारे साथ चलकर दक्षिण दिखा लाने की बात मान ली। श्रीमती जी को जोज़फ़ के रूप में एक नया भाई मिल गया था और बेबी भी भाषा के माध्यम की असुविधा के बावजूद कुछ अंग्रेज़ी, कुछ तामिल और कुछ हिन्दी शब्दों से अपना काम निकाल लेती थी।

पता नहीं कैसे, उसने जोज़फ़ का 'ज्योर्जी' नाम निकाल लिया था और सिर्फ़ गुस्सा होने पर ही उसे 'काला बन्दर' कह कर मुँह फुला लेती थी। पर बुरा मानना तो दूर रहा, गिलगिली करके जोज़फ़ उसे कुछ ही क्षणों में राज़ी भी कर लेता था और फिर दोनों खिलखिला कर हँस पड़ते थे। और मैं आश्चर्य से देखने लगता था कि आख़िर इन दोनों की हँसी का समान आधार क्या हो सकता है? कभी-कभी मेरे पूछने पर दोनों और भी ज़ोर से खिलखिला कर हंस पड़ते थे और मैं निरुत्तर हो जाता था।

जोज़फ़ के साथ मद्रास, पालघाट, त्रिवेन्द्रम, अर्नाकुलम, कोयम्बतूर, त्रिचनापल्ली, कन्या-कुमारी आदि स्थानों की यात्रा बड़ी सुखद और जानकारी बढ़ानेवाली रही। यात्रा के दौरान में जोज़फ़ को अधिक निकट से और अधिक अच्छे रूप में देखने का अवसर मिला। कुली से लेकर मोटर-ड्राइवर, बिजली-मिस्त्री, रसोइया, नाई, धोबी, मोची, दर्ज़ी और न जाने किस-किस काम में वह एकदम 'माहिर' था। पर इससे भी कहीं अधिक महत्व था उसकी मानवीयता का। अक्सर हमें प्लेटफार्म पर बिठा कर वह दूसरों का सामान बाहर रखने ले जाता। कभी किसी बुढ़िया को पीठ पर लाद कर घोड़ा-गाड़ी पर चढ़ाने ले जाता, तो कभी किसी बिना टिकट चलनेवाले की मुक्ति के लिये गिड़गिड़ा कर रेल-अधिकारियों से प्रार्थना करता। कभी-कभी मैं झुँझला भी जाता कि अजीब आदमी है, दुनिया-भर की पंचायत में पड़ जाता है। एक बार तो शायद मेरे चेहरे पर ऐसा ही कुछ भाव देख कर जोज़फ़ कुछ भाँप गया और नम्रता से बोला—"क्षमा कीजियेगा, आपको इतनी देर प्रतीक्षा कराई। आप भी सोचते होंगे कि कैसा अहमक आदमी है, जो हर किसी के काम में कूद पड़ता है। मस्तिष्क तो मेरा भी अक्सर ऐसा ही कुछ सोचता और कहता है; पर

मन नहीं मानता। किसी को संकट में या परेशान देख कर मुझ से रहा नहीं जा सकता। एक बार एक पुरुष ने एक स्त्री के गाल पर ज़ोर से तमाचा जड़ दिया। मुझ से यह देखा न गया। मैंने जा कर पीछे से उसके वह लात जमाई कि हज़रत चारों खाने चित्त जा गिरे और आगे के दो दाँत भी टूट गये। संयोग से वे पति-पत्नी ही थे। पति के गिरते ही पत्नी ने चिल्ला कर पुलिस को बुलाया। मैं पकड़ लिया गया और फिर राजमार्ग पर अशान्ति फैलाने तथा मार-पीट करने के जुर्म में एक महीने की सज़ा हुई!"

मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। बोला—"भला पति-पत्नी के बीच में बोलने की आपको क्या ज़रूरत थी?"

गंभीरता के साथ जोज़फ़ ने कहा—"हाँ, तर्क की दृष्टि से तो यही बात ठीक है। पर मेरा दृष्टिकोण इस दिशा में ज़रा भिन्न है। मेरी यह धारणा है कि भारतीय नारी-जाति ज़रूरत से ज़्यादा लांछित, अपमानित और पतित हो चुकी हैं अतः अब उस पर होनेवाली एक भी ज़्यादती मुझे बर्दाश्त नहीं। एक बार तो ट्रेन में एक स्त्री को अकेली पाकर सतानेवाले एक नराधम को मुझे नरक का रास्ता भी दिखाना पड़ा!"

मैं एक बारगी चौंक-सा उठा। मेरे मुँह से निकल पड़ा—"तो क्या आपने हत्या भी की है?"

"उसे भला कोई सभ्य व्यक्ति हत्या कहेगा? और यदि हत्या थी भी, तो एक शैतान की थी, जिसके चले जाने से दुनिया का कुछ-न-कुछ लाभ ही हुआ, नुकसान नहीं।"

इसी तरह एक दूसरा आश्चर्य, किंतु सुखद, जोज़फ़ ने मुझे त्रिवेन्द्रम से कन्या कुमारी जाते समय रास्ते में दिया। चाँदनी रात में समुद्र-तट के समानान्तर जानेवाली उस सड़क पर मोटर-यात्रा कितनी

सुखद है, यह अनुभव करके ही जाना जा सकता है। मेरे यह कहने पर कि इस समय समुद्र का दृश्य कितना मनोहर और कवितामय है, जोज़फ़ ने गद्गद् कण्ठ से कहा—"मनोहर ही नहीं, सौंदर्य और कविता का यह सहज सजीव सामंजस्य एक अद्‌भुत जादू है। कई बार इधर से गुज़रने पर मैंने एक बार एक कविता लिखी थी।"

"कविता!" हठात् मेरे मुँह से निकल पड़ा और बरबस मैंने उसके आगे के शब्दों को प्रयत्न कर रोक लिया—तुम मूर्ख, अशिक्षित, आवारा और कविता!

जोज़फ़ के अकस्मात् ब्रेक देने पर एक तेज़ धक्के के साथ मोटर रुक गई और अगली सीट से मुड़ कर पीछे देखते हुए उसने कहा—"हाँ, कविता! क्यों, आपके ख्याल में प्रतिभा तथाकथित् पंडितों और ब्राह्मणों की ही बपौती है क्या? सुनिए—"

इसके बाद उसने अपने दर्दीले कण्ठ-स्वर से तान छेड़ी और सारा वातावरण जैसे काव्यमय हो उठा। कविता मलयालम् में थी, इसलिए मैं उसे ठीक-ठीक समझ तो न सका, पर जोज़फ़ ने उसका जो आशय बताया, वह कुछ इस प्रकार था—

हे महाभाग, बोलो तुम कौन हो?
सागर की लहरों-रूपी घोड़ों पर चढ़ कर,
मोतियों के रुपहले थाल भर-भर कर,
तुम कामनाओं का तूफ़ान बन दौड़ते हो;
मैं हाथ बढ़ाता हूँ, तुम्हारे पथ में पलकें बिछाता हूँ,
पर तुम मेरे कर-स्पर्श से पहले ही दहल कर
स्वप्नों के महलों की तरह गिर कर चूर-चूर हो जाते हो!
बोलो, हे महाभाग! तुम कौन हो?
तुम अन्तर के अनहद स्वप्न बन—

चढ़ कर कविता-बाला के अधरों पर
सिहरन, कम्पन, गर्जन, लरजन बन
सिसक भीत आत्मार्पण-से बन
इच्छित वरदानों-से संकुल, आने से पहले ही
प्रतिध्वनि-से टकराते कहीं दूर पर !
बोलो, मेरे मुखर मौन, तुम कौन हो ?

अचानक जोज़फ चुप हो गया। उसका गला आर्द्र हो आया था। मैंने कहा—"बस, इतनी-सी ही है क्या यह कविता ?"

"नहीं, आगे कुछ और भी है; पर वह मैं अब नहीं सुना सकूँगा," कह कर जोज़फ़ ने आँखें पोछीं और मोटर फिर रवाना कर दी। मैंने आश्चर्य से पूछा—"सचमुच यह आपकी ही है क्या ?"

"क्या मतलब आपका ?"

"नहीं, मेरा मतलब था कि आपके ये भाव अपने ही हैं या किसी कवि से कुछ प्रेरणा भी मिली है ?"

"यह मैं कुछ नहीं जानता। मैंने आप से कहा न कि, न मैं कोई कवि हूँ, न कविता लिखना या पढ़ना मेरा काम ही है।"

मैं चुप हो गया। बेबो को नींद आ गई थी और श्रीमती जो आश्चर्यपूर्वक बिना कुछ बोले मेरी ओर देख रही थीं। कुछ आगे बढ़ने पर जोज़फ़ ने कहा—"इस कविता के साथ मेरे यौवन के ऊषा काल की एक प्रणय-कहानी जुड़ी हुई है...पर वह केवल एक कहानी ही है, जो दहकते अँगारे की तरह अपनी दुखद याद-भर छोड़ गई है।"

मैं कुछ न बोला। कुछ क्षण पहले का भरी चाँदनी रात का समुद्र का वह मादक दृश्य सहसा बदल-सा गया था। अब वातावरण में एक अजीब मनहूसियत-सी छा गई थी। चाँदनी फीकी-सी लगने

लगी थी। धीरे-धीरे रात बीत चली और कन्या कुमारी में पहुँच कर हमने उषा के दर्शन किए—निराश, तिमिराच्छन्न जीवन में आशा की प्रथम स्वर्णिम रेखा की भाँति! अरब सागर और बंगाल की खाड़ी का वह सुन्दर सम्मिलन शायद इस जीवन में कभी भूलेगा नहीं।

५

बरबस जब मैंने अपने-आपको स्मृतियों के जाल से मुक्त किया, तो देखा कि जोज़फ़ का पत्र हाथ से छूट कर न जाने कब नीचे गिर गया था—वैसे ही जैसे एक दिन वह सहसा मेरे जीवन में आकर चला गया। आते समय न मैंने जोज़फ़ का पता-ठिकाना लिखा, न अपना ही उसे दे सका। परदेसी को यह अल्पकालीन प्रीति एक दिन आँसुओं की लड़ी की तरह टूट गई। जोज़फ़ ने भरी आँखों, रुद्ध कण्ठ और काँपते हुए होठों से बेबी का हाथ अपने हाथ में लेकर सिर्फ़ इतना ही कहा—"बेबी, हमको भूल तो न जाओगी? हम तुम्हारे घर आयँगे एक दिन।" और यह पत्र शायद उस चिर प्रतीक्षित आगमन का ही पहला क़दम था। पर दुर्भाग्यवश मैं जोज़फ़ के लिए कुछ न कर सका। उसके योग्य कोई काम स्थिर ही नहीं कर पाया। सोचा उसे बुला तो लूँ, फिर कोई काम तय हो जायगा। सो कुछ दिन बाद ५०) का एक मनीआर्डर भेजा। पर बदकिस्मती से वह भी पानेवाले का पता न लगने से लौट आया और मैं जोज़फ़ के दूसरे पत्र की प्रतीक्षा करने लगा।

कई दिन, सप्ताह और महीने बीत गये। आख़िर मैंने जोज़फ़ के डाकघर के अध्यक्ष को व्यक्तिगत पत्र लिख कर उसका हाल पूछा। कई दिन बाद जवाब आया—'१२ दिन भूखे रहने के बाद जोज़फ़ की मृत्यु हो गई!'

५

हमने गांधी तक को मार डाला, तुम . . . !

सुधीर हमारे मोहल्ले के चायघर की मानो जान थे। उनके बिना चायघर सूना-सूना सा लगता था। सुबह सवेरे जब एक मैली गंजी और फीकी हरी लुंगी पहने, बग़ल में अख़बार दबाए और एक अजीब अदाके साथ मुँह में दबी सिगरेट का धुँआ छोड़ते हुए सुधीर बाबू चायघर में पधारते, तो अचानक लोगों की बाछें खिल उठती थीं और चारों ओर से 'आइए, सुधीर बाबू,' 'आइए, सुधीर बाबू,' आज इतनी देर क्यों हो गई', 'आज की नई ख़बर क्या है' आदि की झड़ी लग जाती थी। और सुधीर बाबू भौंहों में ज़रा बल डालकर, मेज़ कुर्सी और इधर-उधर बैठे हुए आदमियों को एक दार्शनिक-सुलभ विश्लेषक दृष्टि से देख, एक क्षण चुपचाप खड़े रह, फिर एक विचित्र-सी भाव-भंगिमा बना किसी कुर्सी पर बैठ जाते थे। गुड़ पर जैसे मक्खियाँ टूटती हैं, लोग भी उसी तरह चारों ओर से सुधीर बाबू को घेर लेते थे। इसके बाद कुछ क्षण जिज्ञासा और उत्सुकता-भरी आँखों से सब उनकी ओर देखते रहते। फिर कभी सिगरेट और कभी मेज़पर बैठी मक्खी पर केन्द्रित उनकी निर्निमेष दृष्टि को अपनी ओर फेरने के लिए कोई साहस कर कहता—'सुधीर बाबू, तो हाँ, सुनाइए न, आज क्या नई ख़बर है? कैसी हालत है शहर की?'

और तब सिगरेट की राख झाड़ तनिक गम्भीर और उदास मुद्रा से

सुधीर आसपास के लोगों की ओर दृष्टि घुमाकर कहते—'हालत अच्छी नहीं है, भाई! क्या क्या बताऊँ, कुछ समझ में नहीं आता। वे काँग्रेस वाले हमें डुबोकर ही रहेंगे।'

सब लोग गम्भीर हो गए। राखालने अनायास कह दिया—'जान पड़ता है, सुधीर बाबू आजकल कम्युनिस्ट हो रहे हैं!'

और सुधीर बाबू के तेवर चढ़ गए। ज़रा सहमी हुई दृष्टि से राखालकी ओर देखते हुए सुधीर ने कहा—'यह ठट्ठा करने का समय नहीं है रे नालायक! तुझे क्या मालूम कि हमारे भाई-बन्धुओं पर पाकिस्तान में क्या बीत रही है? कैसे-कैसे ज़ुल्म और ज़्यादतियाँ आज उन पर हो रही हैं?

राखाल कुछ सकपका गया। प्रतुल ने बात सम्हालने की दृष्टि से कुछ गम्भीर होकर कहा—'तो क्या वहाँ की स्थिति कुछ गम्भीर हो गई है, सुधीर बाबू?'

'कुछ नहीं, बहुत गम्भीर!' सुधीरने ज़रा भारी गले से आँखें नीचे करते हुए कहा—'हमारे भाई मारे और लूटे जा रहे हैं, हमारी बहन-बेटियों को अपहृत और बेइज़्ज़त किया जा रहा है, हिन्दुओं के घर-दुकानों में आग लगाई जा रही हैं। ओफ़, उनकी कठिनाइयों की सीमा नहीं!'

सब उदास हो गए। उनके मन में दबी घृणा और द्वेष की आग मानो फिर भभक उठी। कुछ क्षण सब चुप रहे। फिर विपिन ने ज़रा झिझकते हुए मौन भंग किया—पर सुधीर दादा, क्या ये सारी बातें बिल्कुल ठीक हैं?'

एक भर्त्सना-भरी दृष्टि से विपिन की ओर देखते हुए सुधीर ने कहा—'तू दुनिया की कुछ ख़बर-ख़बर भी रखता है या कोरी नुक्ताचीनी ही करता रहता है?' और फिर बग़ल में दबे अपने दोनों अख़बारों

को खोलकर मेज़पर रखते हुए कहा—'ले, आँखें खोलकर पढ़ ले ज़रा इन्हें।'

विपिनने दोनों अख़बारों की मोटी-मोटी सुर्खियों पर नज़र दौड़ाई। एकके नीचे लिखा था—'हमारे विशेष संवादाता द्वारा' और दूसरेके नीचे—'हमारे ढाका-स्थित कार्यालय से।' सबकी आँखें विपिन के चेहरे पर लगी थीं। इस मंडली में वह 'विरोधी-दल का नेता' कहा और समझा जाता था। किसी की बात वह सहज ही मान ले, यह असम्भव-सा था। स्वभावतया वह बोला—'पर यह ज़रूरी नहीं कि इनमें जो-कुछ लिखा है, वह एकदम सच ही हो। ये बातें सच हैं, इसका सबूत क्या और हम इनपर कैसे विश्वास करें?'

बीचमें ही प्रतुल बोल उठा—'इसे तो पाकिस्तान में सब हिन्दू मार डाले जायँ, तब भी विश्वास न होगा!'

'तुम ठहरो'—प्रतुलके कन्धेपर हाथ रखते हुए सुधीरने विपिन की ओर मुख़ातिब होकर कहा—'ये प्रतिष्ठित पत्र हैं और इनके स्टाफ़के सीनियर आदमी सारी स्थितिको भली भाँति देख-समझकर संवाद भेजने के लिये वहाँ भेजे गए हैं। पर जाने दो इन्हें। तुम मेरे साथ स्यालदा चलकर अपनी आँखोंसे देख लो कि वहाँ पाकिस्तानसे कितने शरणार्थी आ रहे हैं। चाहो, तो उनसे बात भी करके देखो।'

प्रतुल बोला—'दादा, परसों ही तो वहाँसे आए एक आदमीने बताया कि एक ट्रेन रोककर उसमें के सारे हिन्दू-यात्रियोंको मार डाला गया।'

राखाल बोला—'कुछ लाशेंभी आई हैं।'

'तुमने देखी हैं लाशें?'—विपिन ने ज़रा तुनक कर पूछा।

सुधीर ने गला साफ़ करके कहा—'हाँ रे, मैंने देखी हैं! बोल, तू

क्या कहना चाहता है कि वहाँ बिल्कुल शान्ति है ?'

नहीं सुधीर दादा, वह भला मैं कैसे कह सकता हूँ; क्योंकि मैं वहाँकी स्थितिसे स्वयं परिचित नहीं । पर एक बात कहूँ। ये जितनी खबरें फैली हुई है, अधिकांश झूठी, निराधार और अतिरंजित हैं। कल मैं भी स्यालदा-स्टेशन पर पाकिस्तान से आई एक ट्रेन देखने गया था; जिसके डिब्बों में खून लगा बतलाया गया था। पर मुझे तो एक भी डिब्बा ऐसा नहीं दिखा।'

दोनों हाथ जोड़कर सुधीरने कहा—'तुम्हें भला क्यों दिखेगा ! अपनी बात छोड़ो।' और फिर दूसरोंकी ओर देख कर बोला—'पर कोरी बातों से काम नहीं चलेगा। हमें पाकिस्तान वालों को बता देना होगा कि हम ऐसा हर्गिज न होने देंगे। अगर ये बाज़ नहीं आते, तो हिन्दुस्तान में एक भी मुसलमान सुरक्षित नहीं रह सकेगा।'

'पर सुधीर दादा'—बीच ही में विपिन बोल उठा—'वहाँ अगर कुछ हो भी रहा है, तो इसमें बेचारे यहाँ के मुसलमानोंका क्या हाथ ? इनका क्या दोष ? क्या गाय के खेत खा जाने पर बछिया को मार डालना न्याय है ? फिर...

'बस, बस, अपना न्याय-अन्याय अपने ही पास रख। मैं तुमसे बात नहीं करना चाहता। तू बड़ा देवता है न, मैं तो साधारण मनुष्य हूँ, अतः अपने भाइयों का दुःख-दर्द मुझे कैसे महसूस न हो ?' यह कहकर सुधीर उठ खड़ा हुआ और एक अजीब आतंककी सृष्टिकर आजकी मंडली भंग हुई।

२

मोटरके रुकते ही उमापद राय चौधरीने इधर-उधर देखा और उतरकर सुधीरके घरमें चले गए। सुधीर एक शीशे का टुकड़ा तकिएसे टिका कर उसमें देख-देखकर हजामत बना रहा था। राय

चौधरीको देखते ही वह सकपकाकर उठ खड़ा हुआ। नमस्कार कर अपने सोनेके तख़्त की ओर इशारा करते हुए बोला—'आइये उमा बाबू, बैठिए। भला आपने कैसे कष्ट किया?'

चादर तख़्त पर रख बैठनेका उपक्रम करते हुए उमा बाबू ने कहा—'क्यों, क्या यह घर मेरा नहीं? तुम मेरे बन्धु नहीं? भला, तुमसे मिलने आने पर भी क्या कुछ पाबन्दी है?'

'नहीं, नहीं, वह भला क्यों होगी?'—सहज हँसी के साथ सुधीरने कहा—'पर आपको कष्ट जो करना पड़ा! अरे, मुझे ही बुलवा भेजते।'

'अच्छा; यह औपचारिकता बन्द करो। अब कामकी बात करें।'

'कहिए, क्या आज्ञा है?'

'आज्ञा भला क्या होगी? भई, इस बार आपने सरस्वती पूजाकी जो व्यवस्था की, जिस शानसे वह उत्सव मनाया, मैं बहुत खुश हुआ। आपके पास पाड़ेके युवकोंका एक सुसंगठित दल है। आप चाहें, तो देश और जातिकी भलाईके लिए बहुत-कुछ कर सकते हैं।'

'मैं भला क्या, यह सब तो आपके सहयोग और आशीर्वाद का ही सुफल है। हाँ, तो कहिए, क्या आज्ञा है?'

'कहता हूँ, भाई; कहने ही को तो आया हूँ। कल रात-भर मुझे नींद नहीं आई। स्यालदा और बोनगांव में पूर्वी पाकिस्तानसे आए शरणार्थियोंकी अवस्था देखी, उनके दुःख-दर्दकी जो कहानी सुनी उससे मन न जाने कैसा-कैसा हो गया। हे भगवान्, पता नहीं, इस हिन्दू-जातिकी और क्या दुर्दशा होनी बाक़ी है! हम लोग भी क्या मनुष्य हैं सुधीर, जो अपनी और अपने भाई-बन्धुओंकी रक्षा तक नहीं कर सकते? तुम्हीं बताओ, क्या हम ज़िन्दा कहलाने लायक हैं?'

'नहीं! मैं स्वयं भी इससे कम परेशान नहीं हूँ, उमा बाबू।'

'बस हो गए परेशान ! ज़रा नाटकीय ढंगसे उमा बाबू बोले—'अरे, तुम नौजवान हो, तुम्हारी नसोंमें गरम खून है, तुम्हारे बाज़ुओंमें ताकत है। कुछ करके दिखाओ। तुम्हारी परेशानीसे तो पूर्वी पाकिस्तानकी यह लूट मार रुक नहीं जायगी।'

'हाँ, यही तो सोच रहा हूँ, उमा बाबू।'

'बस, सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ ! अरे, हमारे भाइयों पर संकट का पहाड़ टूट रहा है और तुम दार्शनिक की तरह घरमें घुसे बस सोच ही रहे हो ! इससे काम नहीं चलेगा, सुधीर। कुछ करना होगा, और शीघ्र ही।'

'तो आप ही बताइए, क्या करें ?'

'लो, सुनो इसकी बात ! तुम तो ऐसे भोले बन रहे हो, जैसे कुछ समझते ही नहीं। अरे, तुम्हीं तो कल कह रहे थे कि सरकार इन शरणार्थियोंके लिए कुछ नहीं कर रही और केन्द्रीय सरकार को तो इनकी तनिक परवाह नहीं। पर हमारा-तुम्हारा भी तो इनके प्रति कुछ फर्ज़ है। हम-तुम भी तो आखिर कुछ कर ही सकते हैं इनके लिए।'

'हाँ, हाँ, यही तो पूछ रहा हूँ कि क्या कर सकते हैं ?'

'सुनो, यह जो तुम्हारे मोहल्ले के उत्तर-पूर्व में मुसलमानोंकी बस्ती है, उसकी आधी से ज़्यादा ज़मीन मेरी है। बहुत चेष्टा करके भी मैं उसे खाली नहीं करवा सका। अब अगर तुम इसे खाली करवा सको, तो मैं वहाँ पाकिस्तानसे आए हुए शरणार्थियोंके लिए घर बनवा दूँगा। उन बेचारोंको सर्दी में दर-दर भटकना तो न पड़ेगा। हरे-हरे, भगवान् किसीको ये दिन न दिखाना।'

'बात तो ठीक है। पर वह खाली हो कैसे ?'

'अरे भाई वाह ! तुम तो कहते थे न सुधीर बाबू कि हम क्रांतिकारी रह चुके हैं, और इतनी छोटी-सी बात में तुम्हारा दिमाग़ काम

नहीं करता ? अरे, इस अशान्ति और उपद्रव के मौकेसे फायदा उठाकर लगवा दो बस्तीमें आग। सब झोंपड़े ही तो हैं। एक मिनटमें भर्र-से होकर रह जायेंगे। और हाँ, इस काममें कोई खास जोखिम भी नहीं।'

सुधीर कुछ सोचने लगा! उमा बाबूने कोटके भीतरकी जेब में से दस-दस रुपयोंके कई नोट निकाले और उन्हें सुधीरके हाथमें थमाते हुए बोले—'यह लो कुछ खर्च-वर्च के लिए। और हाँ, देखो, शुभ काममें देरी नहीं करनी चाहिए। शरणार्थियोंकी आत्मा तुम्हें आशीर्वाद देगी, सुधीर बाबू!,

सुधीरने एक दृष्टि नोटों पर डाली और फिर उमा बाबूकी ओर देखने लगा। वह कुछ कहे, इससे पहले ही वे बोले—'इसमें संकोच किस बात का, सुधीर। काम कोरी बातोंसे ही तो नहीं होता। मेरे पास पैसा है, पर काम करने वाले नहीं। तुम्हारे पास कार्यकर्त्ता हैं, पर पैसा नहीं। इसलिए हमारा-तुम्हारा सहयोग सोनेमें सुगंध समझो।' 'अच्छा'—सुधीरने कहा और नोट जेबमें रख लिए।'

एक ठंडी साँस लेकर उमा बाबूने कहा—'पूर्वी बंगालके घर-ज़मीनकी तो अब कोई आशा नहीं। पर यहाँ भी जो थोड़ी-सी ज़मीन है, वह अगर मेरे काम न आय, तो कम-से-कम आपद्ग्रस्त हिन्दुओंके ही कुछ काम आय। भला, इन विधर्मियोंकी सुविधा के लिए उसे छोड़े रखने में क्या अक्लमन्दी ? और मैं तो जब-जब मुसलमानोंकी करतूतों का बखान सुनता हूँ; तो खून खौल उठता है। अभी कल ही तो सुना कि पूर्वी बंगाल से कई लाशों के टुकड़े डाक और रेल-पार्सलों में आए हैं। भला, इन्हें हो क्या गया है, सुधीर ?'

'पागल हो गए हैं, पागल।'—सुधीरने आक्रोश-भरे स्वरमें कहा—'पर देखिएगा, अब यहाँ भी ये न रहने पायँगे।'

'बस हो गए परेशान ! ज़रा नाटकीय ढंगसे उमा बाबू बोले— 'अरे, तुम नौजवान हो, तुम्हारी नसोंमें गरम खून है, तुम्हारे बाज़ुओंमें ताकत है । कुछ करके दिखाओ । तुम्हारी परेशानीसे तो पूर्वी पाकिस्तानकी यह लूट मार रुक नहीं जायगी ।'

'हाँ, वही तो सोच रहा हूँ, उमा बाबू ।'

'बस, सोच रहा हूँ, सोच रहा हूँ ! अरे, हमारे भाइयों पर संकट का पहाड़ टूट रहा है और तुम दार्शनिक की तरह घरमें घुसे बस सोच ही रहे हो ! इससे काम नहीं चलेगा, सुधीर । कुछ करना होगा, और शीघ्र ही ।'

'तो आप ही बताइए, क्या करें ?'

'लो, सुनो इसकी बात ! तुम तो ऐसे भोले बन रहे हो, जैसे कुछ समझते ही नहीं । अरे, तुम्हीं तो कल कह रहे थे कि सरकार इन शरणार्थियोंके लिए कुछ नहीं कर रही और केन्द्रीय सरकार को तो इनकी तनिक परवाह नहीं । पर हमारा-तुम्हारा भी तो इनके प्रति कुछ फर्ज़ है । हम-तुम भी तो आखिर कुछ कर ही सकते हैं इनके लिए ।'

'हाँ, हाँ, वही तो पूछ रहा हूँ कि क्या कर सकते हैं ?'

'सुनो, यह जो तुम्हारे मोहल्ले के उत्तर-पूर्व में मुसलमानोंकी बस्ती है, उसकी आधी से ज़्यादा ज़मीन मेरी है । बहुत चेष्टा करके भी मैं उसे खाली नहीं करवा सका । अब अगर तुम इसे खाली करवा सको, तो मैं वहाँ पाकिस्तानसे आए हुए शरणार्थियोंके लिए घर बनवा दूँगा । उन बेचारोंको सर्दी में दर-दर भटकना तो न पड़ेगा । हरे-हरे, भगवान् किसीको ये दिन न दिखाना ।'

'बात तो ठीक है । पर वह खाली हो कैसे ?'

'अरे भाई वाह ! तुम तो कहते थे न सुधीर बाबू कि हम क्रांतिकारी रह चुके हैं, और इतनी छोटी-सी बात में तुम्हारा दिमाग़ काम

नहीं करता ? अरे, इस अशान्ति और उपद्रव के मौकेसे फायदा उठाकर लगवा दो बस्तीसें आग। सब झोंपड़े ही तो हैं। एक मिनटमें भर्र-से होकर रह जायेंगे। और हाँ, इस काममें कोई खास जोखिम भी नहीं।'

सुधीर कुछ सोचने लगा ! उमा बाबूने कोटके भीतरकी जेब में से दस-दस रुपयोंके कई नोट निकाले और उन्हें सुधीरके हाथमें थमाते हुए बोले—'यह लो कुछ खर्च-वर्च के लिए। और हाँ, देखो, शुभ काममें देरी नहीं करनी चाहिए। शरणार्थियोंकी आत्मा तुम्हें आशीर्वाद देगी, सुधीर बाबू !,

सुधीरने एक दृष्टि नोटों पर डाली और फिर उमा बाबूकी ओर देखने लगा। वह कुछ कहे, इससे पहले ही वे बोले—'इसमें संकोच किस बात का, सुधीर। काम कोरी बातोंसे ही तो नहीं होता। मेरे पास पैसा है, पर काम करने वाले नहीं। तुम्हारे पास कार्यकर्त्ता हैं, पर पैसा नहीं। इसलिए हमारा-तुम्हारा सहयोग सोनेमें सुगंध समझो।'
'अच्छा'—सुधीरने कहा और नोट जेबमें रख लिए।'

एक ठंडी साँस लेकर उमा बाबूने कहा—'पूर्वी बंगालके घर-ज़मीनकी तो अब कोई आशा नहीं। पर यहाँ भी जो थोड़ी-सी ज़मीन है, वह अगर मेरे काम न आय, तो कम-से-कम आपद्ग्रस्त हिन्दुओंके ही कुछ काम आय। भला, इन विधर्मियोंकी सुविधा के लिए उसे छोड़े रखने में क्या अकलमन्दी ? और मैं तो जब-जब मुसलमानोंकी करतूतों का बखान सुनता हूँ; तो खून खौल उठता है। अभी कल ही तो सुना कि पूर्वी बंगाल से कई लाशों के टुकड़े डाक और रेल-पार्सलों में आए हैं। भला, इन्हें हो क्या गया है, सुधीर ?'

'पागल हो गए हैं, पागल।'—सुधीरने आक्रोश-भरे स्वरमें कहा—'पर देखिएगा, अब यहाँ भी ये न रहने पायँगे।'

कुछ मुस्करा कर उमा बाबूने कहा—'सो तो होना ही चाहिए। भला, तुम-जैसे क्रांतिकारी जब ब्रिटिश साम्राज्यसे लोहा लेने में नहीं डरे, तो अब इन पिद्दियों से डरेंगे!' अच्छा, तो अब चलता हूँ। ज़रूरत पड़ने पर मुझे ख़बर देना, समझे?

नमस्कार कर उमा बाबू चले गए। उन्हें द्वार तक पहुँचा कर लौटते हुए सुधीरका हृदय धुक्-धुक् कर रहा था। शायद सुधीरके सिवा इस धड़कनका अर्थ कोई दूसरा नही समझ सकता था।

३

कर्फ्यू लगनेके कोई दो-ढाई घंटे के भीतर, ४८ घंटोंके आतंक और अशांतिके बाद, आगकी लपटोंने उस अभागी बस्तीमें अपना मनहूस सिर उठाया। धमकी और सूचना पाकर कुछ बाशिन्दे पहिले ही भाग गए थे और जो बचे थे, उनका धीरज भी आस पास के घर जलते देख कर छूट गया। जो पेशेवर गुण्डे थे, वे भी दांत पीस और मन मसोस कर रह गए, क्योंकि आज समय और स्थिति सब-कुछ उनके प्रतिकूल थे। अधिकाँश व्यक्ति ग़रीब थे, जो भय और आतंकके साथ ही आँखों में विवशताके आँसू भरे भागे जा रहे थे। कुछ पर इस हालतमें भी आक्रमण हुआ। भागते हुओंके बीच एक बम ज़ोरदार धड़ाके के साथ फटा, जिसने एक बुढ़िया और एक मासूम बच्चेके प्राण लिए तथा कइयों को घायल किया। उमा बाबूकी मोटर यह सब-कुछ देखने को चक्कर लगा रही थी—उनके पास कर्फ्यू में निकलने का पास जो था!

इसी समय पास की एक गली में कुछ चहल-पहल-सी हुई। सुधीर दौड़कर उधर गया—हाँ, यह सुधीर ही था। डिस्पोज़लके फ़ौजी कपड़ोंमें वह एक फ़ौजी अफसर-सा दिखाई पड़ता था। आँखों पर लगे रंगीन चश्मेके कारण उसे पहचानना भी कठिन था। आते

ही उसने डपटनेके स्वर में कहा—'क्यों मूर्खकी तरह उत्तेजित हो रहे हो? कितना समझाया तुम्हें कि सारा काम एक दम चुपचाप होना चाहिए।'

'दादा'—एक आदमीने फुसफुसाकर कहा—'उस दक्खिन वाले मकानमें जिस बुड्ढेको मारा, वह तो हिन्दू था। पहले पता नहीं चल सका।'

'ठीक मालूम है तुम्हें?

'हाँ, अभी-अभी मालूम हुआ है। और उसके बड़े लड़केने उसके सामने वाले मकानमें दो मुसलमानों को छुपा रखा है।'

'देखो, कान खोलकर सुन लो। बुड्ढेको मारने की बात अब भूलकर भी कभी आपसमें मत करना। सब यही कहना कि मुसलमानों ने ही उसे मारा है।'

'पर दादा'—एक दूसरे व्यक्तिने कहा—'अब तो दो दिनोंसे उस तरफ़ कोई मुसलमान रहा ही नहीं। फिर इस बात पर लोग विश्वास कैसे करेंगे?'

एक व्यंग्यपूर्ण मुस्कराहटके साथ सुधीरने कहा—'तुम मूर्ख ही नहीं, वज्रमूर्ख हो, गुरुदा। अरे, इस वक्त तो कैसे भी मरे या घायल हुए हिन्दू के बारे में यदि कहो कि उसे मुसलमानने मारा या घायल किया है और हमने अपनी आँखोंसे ऐसा होते देखा है, तो भला कौन मर्दुआ विश्वास नहीं करेगा? खैर, वह तय रहा। अभी बहस का नहीं, काम का वक्त है। हाँ, तो यह ख़बर कौन लाया है कि उसके लड़केने दो मुसलमानों को पनाह दे रखी है?'

अमियने आगे बढ़कर कहा—'सर, मैंने उसे दोनों मुसलमानोंके साथ भागकर उसमें छुपते देखा है।'

'अच्छा, तो चलो। उसीकी ख़बर ली जाय। पेट्रोल तो है न?

नरेन्द्रने हाथमें लिया हुआ पेट्रोलका पीपा हिलाकर देखते हुए कहा—'थोड़ा-सा ही होगा।'

'तुम बहुत ग़ाफ़िल और लापरवाह हो, नरेन्द्र। जाओ, वह मोड़ पर जो लारी खड़ी है; उसीमें से थोड़ा-सा ले आओ।'

'पर, सर'—ज़रा सपकाते हुए नरेन्द्रने कहा—'वह लारी तो पुलिस की है!'

'तब क्या हुआ? डर गए? तुम्हें काम करना है या बातें बनानी हैं?'

'नहीं, नहीं, जाता हूँ।' कहकर नरेन्द्र दबे पाँव लारीकी ओर चल दिया।

सुधीर अन्याय साथियों को लेकर दक्खिनकी ओर चला। सूनी सड़कपर इन्हें संघबद्ध जाते देखकर ऐसा लग रहा था, मानो अविचार अविवेक, अनीति और अन्याय सैर करने को निकले हैं!

घरके सामने पहुँचकर सुधीरने दस्तक दी, पर कोई जवाब नहीं मिला। फिर दरवाज़ा ज़ोर-ज़ोरसे खड़काया। भीतरसे किसीने पूछा—'कौन है?'

'दरवाज़ा खोलो। हम हिंदू हैं।'—सुधीरने कठोर स्वरमें कहा।

भीतर से आवाज़ आई—'हिन्दू हैं, तो इस समय यहाँ कैसे आए? बाहर कर्फ्यू है, तुम्हें पता नहीं?'

'ज्यादा बक-बक मत करो'—सुधीरने डपटकर कहा—'दरवाज़ा खोलते हो या हम तोड़ डालें।'

भीतरसे कोई आवाज़ नहीं आई। क्रोध के मारे सुधीरने पाँव के बूटका एक ज़ोरदार बार किवाड़ पर किया। 'ठहरो, खोले देता हूँ' कहते हुए एक अधेड़ उम्र के व्यक्तिने आकर किवाड़ खोल दिया। भीतरकी धीमी बत्तीके प्रकाशमें उसका भयक्लान्त चेहरा एक प्रश्न सूचक चिन्ह-सा दिखाई दे रहा था। उसके पीछे एक स्त्री और दो

६-८ वर्षके बच्चे खड़े भयसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। कपड़ों और बातचीतसे आदमी पंजाबकी तरफ़ का मालूम होता था। सुधीरने उसके चेहरे पर टार्चलाइट डालते हुए पूछा—'तुमने यहाँ दो मुसलमानोंको छुपा रखा है ?'

'छुपाऊँगा क्यों ?' उस व्यक्तिने सधी हुई आवाज़में कहा—'ये दोनों बूढ़े सिर्फ ग़रीब ही नहीं हैं, बल्कि बड़े नेक और शरीफ भी। पिछले दंगों के समय इन्होंने बहुत से हिन्दुओंकी रक्षा करनेमें काफ़ी मदद की थी।'

'हम तुमसे उनका इतिहास पूछने नहीं, उन्हें लेने आए हैं। उन्हें हमारे हवाले करो।'

'और यदि न करूँ ? आखिर उन बेचारोंका कुसूर क्या है ? जिन्होंने पाकिस्तानके हिन्दुओंपर ज़ुल्म किये हैं, उनसे इन बेचारोंका दूर-दराज़ का भी कोई वास्ता नहीं।

'यह बक-बक बन्द करो। उन्हें हमारे हवाले करो।

'ऐसा नहीं हो सकता। मैंने उन्हें पनाह दी है, मेरे जीते-जी उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा।'

देखो; बेवकूफ़ी न करो। हमने गाँधी तकको मार डाला, तुम क्या चीज़ हो ?'

'नहीं, यह सरासर अन्याय है, अनीति है। चाहे जो-कुछ हो, मैं ऐसा नहीं होने दूँगा।'

सुधीरका इशारा पाकर एक ने उस व्यक्तिके सिर पर लोहेकी एक छड़ दे मारी। एक चीख़ मारकर वह वहीं गिर पड़ा। उसके सिरसे ख़ून बह चला। सुधीर और उसके साथी कबूतरोंकी तरह भयातुर उन दो अभागोंको बाहर घसीट लाए—और घसीटते हुए पासकी एक गलीकी ओर ले चले। देखते ही देखते वह घर आगकी लपटोंमें घिर गया।

६

कफ़न की चोरी

कपड़े पहनकर अहमद कहीं जानेकी तैयारी ही कर रहा था कि किसीने दरवाज़े पर दस्तक दी। उसने जाकर दरवाज़ा खोला, तो देखा कि सामने अकबर हुसैन खड़ा है। अकबरका मुँह अहमदको देखकर भी न खुला, बल्कि अहमदसे चार आँखें होते ही उसकी आँखें झुक गईं और उनसे टप्-टप् आँसू गिरने लगे। अहमद कुछ समझ नहीं सका कि माज़रा क्या है? आहिस्तासे उसने अकबरके कन्धेपर हाथ रखते हुए पूछा 'अकबर भाई, कहो, क्या बात है? खैर तो है न?'

अकबर फूट-फूट कर रोने लगा। और चौखट का सहारा लेकर बोला—'हबीब मियाँ नहीं रहे, अहमद भाई। रात को तीसरे पहर...'

'हैं! यह क्या कह रहे हो? कल शाम को तो मैं उनको अच्छी तरह बातें करता छोड़ आया था। आख़िर एकदम यह क्या हो गया?'

'हाँ, शाम तक तो तबीयत ठीक थी, पर तीसरे पहर रातको उनकी खाँसी जरा बढ़ गई और बुखार भी तेज हो गया। मैं फौरन डाक्टर को बुलाकर लाया। उसने दो सुइयाँ (इंजेक्शन) दीं, पर कोई फायदा न हुआ और ४ बजेके करीब वे फौत हो गए।'

'ओफ़, सारा कुनबा अकालकी भेंट चढ़ गया। तुम दो भाई बचे थे, सो उनमें से भी हबीब मियाँ नहीं रहे। खुदाकी मर्ज़ी!

'नूरन दादा कह रहे थे कि डाक्टर ने सुई ग़लत दे दी। तभी तो

शायद उनका सारा जिस्म नीला पड़ गया है, वर्ना हरारत और खाँसी तो ऐसी कोई खास संगीन बीमारी नहीं, जो जान ही ले ले।'

'तो चलो, ज़रा मैं भी तो देखूँ कि आख़िर अचानक यह हुआ क्या?'

'अब देखकर भी क्या होगा, अहमद मियाँ। उस बेचारे डाक्टर का भी क्या क़ुसूर? कह रहा था कि दवाइयों का चोर-बाज़ार इतना बढ़ गया है कि कोई भी दवा माँगने पर उचित मूल्य में नहीं मिलती। कलकत्ते की हवा अब यहाँ भी पहुँच गई है।'

'अफ़सोस, सद्अफ़सोस! इंसान भी किस क़दर नीचा गिर गया है अकबर कि पैसेके आगे दीनो-ईमानको भुला बैठा है।'

'मगर जब इंसान आज इंसान ही नहीं रह गया, तो दीनो-ईमान से उसे वास्ता ही क्या? आज तो वह सिर्फ़ हैवान से भी बदतर हो गया है, बल्कि शैतान के भी कान काटने लगा है!'

फिर एक क्षण ठहर कर अकबर ने कहा—"मगर अहमद मियाँ, इस वक्त एक ख़ास काम से तुम्हें तकलीफ़ देने आया हूँ।

'हाँ, हाँ, कहो न। मैं तो हर वक्त हाज़िर हूँ।'

'जो मुक़द्दर में बदा था, वह तो हो गया"—उदास होकर अकबर ने कहा—'मगर अब किसी तरह हबीब की मिट्टी भी तो ठिकाने लगाने की फ़िकर करनी है। सुबह से सारा बाज़ार छान डाला है, मगर कफ़न के लिए भी कपड़ा नहीं मिल रहा। अब तुम्हीं मेरा आख़िरी सहारा हो। मेरी इमदाद करो। आख़िर बिना कफ़न के तो.. ...।'

अहमद कुछ उदास हो गया। फिर निराश स्वर में बोला—'पर भाई जान, कपड़ा मिलेगा कहाँ?'

'एक बात कहूँ'—अकबर ने धीरे से कहा—'हरसुखराज राम-सुख को तो तुम जानते हो न। क्यों न उसी से चल कर मिन्नत-खुशामद

की जाय और जिस क़ीमत पर भी मिले, कफ़न खरीदा जाय। इस वक्त पैसा थोड़ा ही देखना है।'

'चलने को मैं तैयार हूँ, मगर वह है बड़ी चलती रकम। पता नहीं काबू में आ सकेगा या नहीं।'

'चौगुनी-पचगुनी कीमत देने पर भी क्या .... !'

'हाँ, इतने पर भी शायद ही माने। बात यह है कि उसका कपड़ा चोरी से आजकल चीन, तिब्बत और नैपाल वगैरा में जा रहा है, जहाँ से उसे कई गुना ज़्यादा पैसा मिलता है। अफ़गानिस्तान, ईरान, इराक और मिसर भी तो धड़ल्ले से कपड़ा जा रहा है।'

'मगर क्या इन्हें ऐसा करते शर्म नहीं आती, अहमद भाई ? यहाँ लोग कपड़े के बिना नंगे हो रहे हैं, भले घराने की बहू-बेटियाँ निलाज हो रही हैं, कफ़न के बजाय लोग लाशों को ताड़ और केले के पत्तों तथा अखबारी काग़ज़ों में लपेट कर दफ़ना रहे हैं, और ये हरामज़ादे······।' अकबर के दाँत किट-किटा उठे। उसकी आँखों में खून उतर आया।

'मगर शर्मोहया भी तो अब इनके पास फटकते लजाते हैं। इन्सानियत भला इनमें रह ही कहाँ गई है ? अच्छा, खैर चलो। देखें अगर वह मान जाय। हबीब तो रामसुख से वाक़िफ़ थे न !' अहमद ने उठते हुए कहा।

'हाँ, हाँ, खूब।'—कहकर अकबर उसके साथ हो लिया।'

२

साफ़-सुथरे गद्दी-तकियों के बीच बैठे सेठ रामसुख जी ऐसे मालूम हो रहे थे, मानो किसी कटे हुए फल के बीच में कोई ज़हरीला कीड़ा बैठा हो। उनके दाएँ हाथ में हंटर की तरह यन्त्रवत् माला फिर रही थी; पर उनका मन उससे उतना ही दूर था, जितना कि वे स्वयं

धर्म-ईमान से दूर थे। छोटू नौकर ने झाड़ू एक कोने में डालते हुए कहा—'भीतर से सब अच्छी तरह साफ़ कर दिया है, मालिक अब चिंता फिकिर की कोई बात नहीं।'

'इधर-उधर कहीं कुछ बिखरा तो नहीं रह गया है ?'

'नहीं, कहीं कुछ नहीं रहा है।'

अच्छा तो जा, अब रसोई बना। और हाँ, देख, आज ग्यारस है इसलिये भात और हरा साग हम आज नहीं खायँगे। अच्छी तरह से घी-चीनी डालकर हमारे लिए बढ़िया-सा चूरमा बना देना, खूब बढ़िया-चकाचक !'

नौकर अभी खाने का हुक्म लेकर जा ही रहा था कि सादे कपड़ों में सेठ जी के चिर-परिचित दरोगा जी आ पहुँचे। 'जैराम जी की सेठ जी'—कह कर वे सेठ जी के पास में गद्दी पर आ बैठे। कुछ हतप्रभ-से होकर सेठ जी ने माला तकिए पर रखदी और दरोगा जी के कान के पास मुँह लेजाकर धीरे से बोले—'कहिए, खैर तो है न ? कोई ख़ास बात तो नहीं ?'

'बात-बात तो कोई ख़ास नहीं, पर मैं यह कहने आया हूँ कि आज साहब बहुत बिगड़ा हुआ है। मुमकिन है, किसी भी वक्त आपके यहाँ भी तलाशी के लिए आ धमके। इसलिए ज़रा होशियार रहें।'

कुछ चिंतित हो सेठ जी ने इधर-उधर देखा। छोटू आँख-कान खोले अभी जहाँ-का-तहाँ ही खड़ा था। उसे देख सेठ जी ने ज़रा उखड़े-से स्वर में कहा—'अरे छोटू, घुग्घू की तरह खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है ? जा दरोगा जी के लिए कुछ नाश्ते-पानी को तो ला।'

छोटू चला गया। दरोगा जी ने बनावटी शिष्टता से कहा—'अरे सेठ साहब, यह नाहक तकलीफ आप क्यों कर रहे हैं ? मैं तो अभी-अभी घर से नाश्ता करके ही आरहा हूँ। सोचा, सबसे पहले चलकर आपको यह खबर दे दूँ।'

की जाय और जिस क़ीमत पर भी मिले, कफ़न खरीदा जाय। इस वक्त पैसा थोड़ा ही देखना है।'

'चलने को मैं तैयार हूँ, मगर वह है बड़ी चलती रक़म। पता नहीं काबू में आ सकेगा या नहीं।'

'चौगुनी-पचगुनी कीमत देने पर भी क्या .... !'

'हाँ, इतने पर भी शायद ही माने। बात यह है कि उसका कपड़ा चोरी से आजकल चीन, तिब्बत और नैपाल वग़ैरा में जा रहा है, जहाँ से उसे कई गुना ज़्यादा पैसा मिलता है। अफ़गानिस्तान, ईरान, इराक और मिसर भी तो धड़ल्ले से कपड़ा जा रहा है।'

'मगर क्या इन्हें ऐसा करते शर्म नहीं आती, अहमद भाई ? यहाँ लोग कपड़े के बिना नंगे हो रहे हैं, भले घराने की बहू-बेटियाँ निलाज हो रही हैं, कफ़न के बजाय लोग लाशों को ताड़ और केले के पत्तों तथा अख़बारी काग़ज़ों में लपेट कर दफ़ना रहे हैं, और ये हराम-ज़ादे······।' अकबर के दाँत किट-किटा उठे। उसकी आँखों में खून उतर आया।

'मगर शर्मोहया भी तो अब इनके पास फटकते लजाते हैं। इन्सानियत भला इनमें रह ही कहां गई है ? अच्छा, खैर चलो। देखें अगर वह मान जाय। हबीब तो रामसुख से वाक़िफ़ थे न !' अहमद ने उठते हुए कहा।

'हाँ, हाँ, खूब।'—कहकर अकबर उसके साथ हो लिया।'

२

साफ़-सुथरे गद्दी-तकियों के बीच बैठे सेठ रामसुख जी ऐसे मालूम हो रहे थे, मानो किसी कटे हुए फल के बीच में कोई ज़हरीला कीड़ा बैठा हो। उनके दाएँ हाथ में हंटर की तरह यन्त्रवत् माला फिर रही थी, पर उनका मन उससे उतना ही दूर था, जितना कि वे स्वयं

धर्म-ईमान से दूर थे। छोटू नौकर ने झाड़ू एक कोने में डालते हुए कहा—'भीतर से सब अच्छी तरह साफ़ कर दिया है, मालिक अब चिंता फिकिर की कोई बात नहीं।'

'इधर-उधर कहीं कुछ बिखरा तो नहीं रह गया है?'

'नहीं, कहीं कुछ नहीं रहा है।'

अच्छा तो जा, अब रसोई बना। और हाँ, देख, आज ग्यारस है इसलिये भात और हरा साग हम आज नहीं खायँगे। अच्छी तरह से घी-चीनी डालकर हमारे लिए बढ़िया-सा चूरमा बना देना, खूब बढ़िया–चकाचक!'

नौकर अभी खाने का हुक्म लेकर जा ही रहा था कि सादे कपड़ों में सेठ जी के चिर-परिचित दरोगा जी आ पहुँचे। 'जैराम जी की सेठ जी'—कह कर वे सेठ जी के पास में गद्दी पर आ बैठे। कुछ हत्प्रभ–से होकर सेठ जी ने माला तकिए पर रखदी और दरोगा जी के कान के पास मुँह लेजाकर धीरे से बोले—'कहिए, खैर तो है न? कोई ख़ास बात तो नहीं?'

'बात-बात तो कोई ख़ास नहीं, पर मैं यह कहने आया हूँ कि आज साहब बहुत बिगड़ा हुआ है। मुमकिन है, किसी भी वक्त आपके यहाँ भी तलाशी के लिए आ धमके। इसलिए ज़रा होशियार रहें।'

कुछ चिंतित हो सेठ जी ने इधर-उधर देखा। छोटू आँख-कान खोले अभी जहाँ-का-तहाँ ही खड़ा था। उसे देख सेठ जी ने ज़रा उखड़े-से स्वर में कहा—'अरे छोटू, घुग्घू की तरह खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है? जा दरोगा जी के लिए कुछ नाश्ते-पानी को तो ला।'

छोटू चला गया। दरोगा जी ने बनावटी शिष्टता से कहा—'अरे सेठ साहब, यह नाहक तकलीफ आप क्यों कर रहे हैं? मैं तो अभी-अभी घर से नाश्ता करके ही आरहा हूँ। सोचा, सबसे पहले चलकर आपको यह खबर दे दूँ।'

'कोई बात नहीं, साहब। यह भी तो आप ही का घर है।' कह कर सेठ जी ने फीकी हँसी-हँसी और फिर इधर-उधर देखने लगे। दरोगा जी की आँखें इस समय छत का निरीक्षण कर रही थीं, जिसका अर्थ सेठ जी के सिवा शायद और कोई नहीं समझता था। सेठ जी भी अपनी कतर-ब्यौंत में लग गये। कुछ क्षण बाद सेठ जी ने जनेऊ में बँधी चाबी से पास पड़ी हुई पेटी का ताला खोला और उसमें से १००)-१००) के दस नोट निकाल कर दरोगा जी की ओर बढ़ाते हुए कहा—'यह आपकी दूसरी किस्त है। सेठ रामसुख अपनी बात से कभी टलने वाला नहीं है, दरोगा जी। आप विश्वास रखिए, हाँ।'

'अरे साहब, तो भला आप पर अविश्वास है किसे?'—कहते हुए दरोगा जी ने नोटों को कोट के भीतर की जेब में रख, कुछ प्रसन्नता से हँसते हुए कहा—'विश्वास पर ही तो सारी दुनिया चलती है, सेठ जी!'

'और नहीं तो क्या? पर सुनिए, मैं साहब-वाहब किसी को कुछ नहीं जानता। मैं तो बस आपको जानता हूँ। मेहरबानी करके उसे किसी तरह समझा दें। आप अगर कह देंगे कि सेठ रामसुख की दुकान में सारी गाँठों की सील सुरक्षित है और मैं खुद अपनी आँखों से देख आया हूँ कि वह आजकल कोई कपड़ा नहीं बेच रहा, तो क्या साहब आपकी बात पर विश्वास नहीं करेगा?'

'क्यों नहीं।' और फिर आवाज़ ज़रा धीमी कर दरोगा जी ने कहा—'आपसे क्या बताऊँ सेठ जी, वह भी साला पूरा पाजी है, पाजी। कहता है कि 'व्हाइट हार्स' की पूरी पेटी ही लाओ। अब तक सात बोतलें तो मैं पहुँचा चुका हूँ। पर वह ठहरा नम्बरी पियक्कड़ और अय्याश, भला ५-७ बोतलों से उसका क्या काम चले?'

'तो ह्वाइट हार्स की पूरी पेटी कितने में आ जाएगी?'

'इस ज़माने में कीमत की बात न पूछिए! मगर आजकल तो उसका मिलना भी बड़ा कठिन है। कलकत्ते से बड़ी मुश्किल से बिस्तर में छिपाकर एक-एक बोतल ६०) और ७०) तक में मँगवाई हैं। एक साथ तो दो का मिलना भी मुश्किल है। उसका भी तो कन्ट्रोल है।'

पर जितने में भी आय, एक पूरी पेटी साहब को देकर उसे खुश कीजिये। पैसे की फिक्र आप न करें। जो-कुछ खर्च हो, अभी पेशगी लेजाइए।'

'नहीं, नहीं, ऐसी भी क्या बात है सेठ जी! पहले ज़रा पता तो लगालूँ कि कहाँ और कितने में मिलेगी।'

छोट्टू एक दौने से कुछ मिठाई और नमकीन तथा एक शकोरे में चाय लेकर आ गया और दरोगा जी के सामने रख दिया। वे बिना कुछ कहे-सुने नाश्ता करने लगे।

इसी समय अहमद और अकबर भी आ पहुँचे। बड़े विनम्र स्वर में अहमद ने कहा—'राम-राम सेठ जी। कहिये मजे में तो हैं?'

'राम-राम, अहमद मियाँ। आओ, बैठो। मज़ा आजकल कहाँ है, भय्या? न खाने-पीने की चीजें मिलती हैं न कपड़ा-लत्ता। पांच साल से काम-धन्धा बिलकुल चौपट हो गया है। बस किसी तरह दिन गुज़र रहे हैं। मालिक की मर्ज़ी।'

काम-धन्धा चौपट हो जाने पर भी सेठ जी आख़िर दुकान क्यों खोलते हैं, चाहने पर भी अहमद ने यह सवाल उनसे न पूछा और बोला—'आपको कुछ तकलीफ देने चला आया।'

'कहो, क्या बात है?'

'कल रात हबीब मियाँ का इन्तक़ाल हो गया। कफ़न के लिये भी कहीं कपड़ा नहीं मिल रहा। यह मेहरबानी तो अब आपको ही

करनी होगी। दाम आप जो चाहें, ले लीजिए, मगर हबीब मियाँ की मिट्टी तो अब आपको ही······'

'मगर कपड़ा है किस कम्बख़्त के पास, अहमद मियाँ ? और तुम तो जानते ही हो कि चोर-बाजार हम करते नहीं।' तिरछी निगाह से दरोगा जी की ओर देखते हुए सहसा अहमद के कान के पास मुँह ले जाकर सेठ जी ने कहा—'इस ससुरे दरोगा को तो यहाँ से मरने दो, फिर जितना चाहे, कपड़ा ले लेना। मगर दाम एक ही होंगे, दर-भाव नहीं होगा।'

दरोगा जी की समझ सेठ जी से कम नहीं थी। स्थिति को भाँप कर वे उठ खड़े हुए और 'जै राम जी की, सेठ जी, कहकर चलते बने। सेठ जी ने सन्तोष की साँस ली और अहमद को लेकर दुकान के भीतर चले गए। अकबर बाहर पहरे पर रहा।

३

ग़रीबी, काला रंग और ढलती जवानी ने बीनादासी को काफी बदसूरत बना दिया था। रही-सही कमी अच्छे और पर्याप्त भोजन के अभाव ने पूरी कर दी थी। उसके पाँचों बच्चे पिछले अकाल की भेंट चढ़ गये थे। वह और जतीन भी बड़ी मुश्किल से बचे थे, सो वे भी अब धीरे-धीरे आधे-पेट रह कर मौत की तरफ़ क़दम बढ़ा रहे थे। बीना बच्चों के ग़म में घुली जा रही थी और जतीन ग़म ग़लत करने के लिये शराबी हो गया था। वेश्यावृत्ति स्वीकार करने के उसके आदेश को न मानने के कारण जब-तब वह बीना को मारने भी लगा था। इन कारणों से बीनादासी केवल कङ्काल-शेष रह गई थी।

पर इधर जब से कपड़े का अकाल शुरू हुआ है, उसके दुखों और परीक्षाओं का मानो कोई अन्त ही नहीं। उसकी मलेरिया से दुर्बल देह कपड़े के अभाव में सदा शीत से काँपती रहती है। जरा

बूँदें पड़ी और तेज़ हवा चली नहीं कि वह अध-बुझा अँगीठी के पास जा बैठती है और दोनों घुटनों के बीच सिर छिपा कर गठरी-सी बन जाती है। लड़ाई बन्द होने के कारण सहसा जतीन के बेकार हो हो जाने से जो चार पैसे आते थे, अब वे भी बन्द हो गए। फलतः दोनो ने एक वक्त ही खाना शुरू कर दिया। कपड़े जब फट चले, तो गमछों का सहारा लिया। जतीन तो पुरुष था, एक गमछा उसके लिए काफी था। पर बीना गमछा पहन कर भला बाहर कैसे निकलती? मजबूरन उसे घर में ही कैद हो जाना पड़ा।

मिट्टी की हाँड़ी में लकड़ी की करछी से भात चलाती-चलाती सहसा कुछ लेने को जब वह उठकर लड़खड़ाती हुई इधर-उधर जाती, तो साक्षात चुड़ैल या भुतनी की छाया-मूर्त्ति का भ्रम होता था। लज्जा रक्षा के लिए कमर से लिपटा मैल से काला और दुर्गन्धिमय एक मात्र जीर्ण-शीर्ण गमछा उसकी सूखी लकड़ी सी टांगों पर ऐसा मालूम होता था मानो कई गर्मी-सर्दी-बरसातें सहा हुआ कोई चिथड़ा किसी पेड़ की सूखी डाल पर लटक रहा हो। ग़नीमत यही थी कि बीना की जिस लज्जा की रक्षा यह गलित-शेष गमछा नहीं कर पा रहा था, उसे उसके घरौंदे की दीवारें शरीफ़ज़ादों की आँखों से बचाये थीं। ज़िंदगी कुछ इस तरह रिस-रिस कर चली जा रही थी कि न तो उसे सही मानों में ज़िन्दगी ही कहा जा सकता था और न मौत ही।

दिन-भर न जाने कहाँ-कहाँ भटक-भटक कर जब शाम को जतीन घर लौटता तो बीना उससे दो ही प्रश्न पूछती—'कहीं काम का ठीक हुआ? मेरी साड़ी क्या आज भी नहीं लाए?' और वह बिना ज़बान हिलाए केवल सिर हिला कर नकारात्मक उत्तर दे देता। फिर कुछ दिन बाद रोज़-रोज़ नकारात्मक उत्तर देना भी जैसे जतीन का पुरुष-अभिमान सहन नहीं कर सका और अब उसने संकेत या स्वर द्वारा किसी तरह

का उत्तर देना भी बन्द कर दिया। बीना अपने प्रश्न दोहराती और जतीन बिना कोई उत्तर दिए शून्य में देखता हुआ अँगीठी के पास जाकर टूटी हुई तश्तरी में हाँडी से भात परोसने लगता। क्षुब्ध-क्रुद्ध बीना बड़बड़ाती हुई उधर बढ़ती और जतीन के हाथ से करछी छीनकर भात परोसते हुए कहती—'अरे, मुझसे क्यों नहीं कह दिया। मैं क्या भात नहीं परोसती तुम्हें? पर तुम्हारी ज़बान पर तो जैसे ताला ही लग गया है।' बात की बात में जतीन सिर्फ दो हरी मिरचों और तोले-भर साग के साथ सारा भात साफ़ कर जाता और बिना कुछ कहे बाहर आ सड़क पर लगे नल से पानी पी, फिर अपनी गश्त पर निकल जाता। छाती में जैसे जबरन हूक दबाकर बीना अपने हिस्से का भात पेट में डालती और चटाई का टुकड़ा जमीन में बिछा कर पड़ी रहती। कभी जतीन आधी रात गए घर लौटता, तो कभी लगातार दो-दो दिन तक उसका कहीं कुछ पता न चलता।

उस रात जब सहसा किसी शोर के कारण बीना की आँख खुली, तो उसने देखा कि कोई जोर ज़ोर से किवाड़ खड़खड़ा रहा है। भय और आशङ्का मिश्रित भावना से वह उठी और सहमे हुए डग भरती किवाड़ के पास पहुँच कर बोली—'कौन है?'

'मैं जतीन हूं, जतीन, जल्दी से दरवाज़ा खोलो।' घबराए हुए स्वर में बाहर से जीतन ने कहा।

बिना कुछ बोले बीना ने दरवाज़ा खोल दिया और हवा के एक तेज झोंके की तरह जतीन भीतर आ गया। उसकी बगल में कुछ सफेद सी चीज़ थी, पर बीना अँधेरे के कारण उसे स्पष्टतया देख नहीं सकी। किवाड़ बन्द कर ज्यों ही उसने आँगन की ओर क़दम बढ़ाया, देखा कि जतीन बीच आँगन में खड़ा है और उसके दोनों हाथों के बीच एक बड़ा-सा सफ़ेद कपड़ा फैला है। उस अँधेरे में चमकता हुआ वह सफ़ेद

कपड़ा ऐसा जान पड़ रहा था, मानो चाँदनी का कोई टुकड़ा अँधेरे ने चुरा लिया हो ! आश्चर्य और आशङ्का से बीना जहाँ की तहाँ ठिठक कर खड़ी रह गई।

दोनों हाथों में फैला हुआ कपड़ा लिए बीना की ओर बढ़ते हुए जतीन ने कहा—'वहाँ क्यों खड़ी हो गई ? क्या मुझसे, अपने पति से, भी अब डर लगने लगा है तुझे ? रोज मेरे कान खाये डोल रही थी कि कपड़ा नहीं है, साड़ी नहीं है। अब जब कपड़ा ले आया, तो दूर खड़ी है। ओहो !' यह कह कर जतीन ने कपड़ा बीना पर फेंक दिया और बोला—'ले, अपने शरीर में आग लगाले इससे। बड़ी इज्जत जा रही थी बेचारी की !

बीना ने कपड़े को हाथों में ही झेल लिया और विषण्ण भाव से जतीन के पीछे-पीछे चलते हुए बोली—'यह कहाँ से लाए हो ? इस समय दुकानें क्या खुली·····'

'बस ज़बान बन्द कर। ज़्यादा बक-बक करने की ज़रूरत नहीं। तुझे ज़रूरत हो तो पहनले, नहीं तो ला, मुझे वापस करदे।' और जतीन ने अपना काँपता हुआ हाथ आगे बढ़ा दिया।

बीना ने दोनों हाथों से कपड़े को अपनी छाती से लगाते हुए कहा—'मैं और क्या कह रही थी ? वैसे ही पूछ रही थी। अच्छा, जाने दो, मत बताओ।'

जतीन ने कमर से लिपटा गमछा खोला और उसे गुड़ी-मुड़ी कर तकिये के तौर पर सिरहाने लगा कर लेट गया। बीना कपड़ा लिए हुए पास ही अपनी चटाई पर आ बैठी। न जाने क्या सोच कर उसने कपड़े को नाक के पास लेजा कर फिर सहसा दूर कर दिया और अँधेरे में ही जतीन की ओर देखते हुए बोली—'इसमें से यह कैसी बू आ रही है ? ऐसा लग रहा है।' जैसे कुछ······

'बू नहीं, तेरा सिर'—डपटने के स्वर में जतीन बोला—'अरी बिलकुल नया कपड़ा है, नया। अभी तो धुला तक भी नहीं है।'

'तब फिर बताते क्यों नहीं कि कहाँ से लाए हो ?'

'इससे तुझे मतलब ? जान कर क्या मुझे पुलिस में देगी ?

'पुलिस में ? यह तुम पागलों-जैसी बात कर रहे हो ? तुम क्या चुरा कर लाए हो, जो······'

'चुरा कर नहीं तो क्या तेरा बाप बैठा है, जो मुझे आधी रात को मुफ्त में कपड़ा दे देगा ?'

'तो क्या सचमुच तुम यह······।'

'हाँ, हाँ, चुराकर लाया हूँ—चुराकर ! और यह भी आज दफनाये गए एक मुर्दे की क़ब्र खोद कर उसका कफ़न चुराया है, किसी की दुकान में सैंध थोड़े ही लगाई है।

'हैं !'—एक दबी हुई चीख़ के साथ बीना बेतहाशा चौंक उठी, और फिर कपड़ा जतीन की ओर फेंकते हुए बोली—'तो यह सँभालो अपना कपड़ा। मैं किसी का उतरा हुआ क़फ़न पहनूँगी ! हाय भगवान, इनकी बुद्धि को क्या हो गया !' और वह सिसकने लगी।

जतीन ने कोई उत्तर नहीं दिया। कपड़ा सिरहाने के पास रख कर-वट बदल कर वह सोने का उपक्रम करने लगा ! उसके बहरे कान मानों बीना का सिसकना सुन कर भी नहीं सुन रहे थे।

४

सड़क के किनारे एक कुर्सी पर साहब बैठा था और पास खड़े सेठ रामसुख उसे अपनी दुकान का ताला टूटने का सारा हाल बता रहे थे, साहब के पाँवों के पास दो बड़े ताले पड़ थे जो बिना चाबियों के ज़रूर थे, पर कहीं से भी टूटे नज़र नहीं आ रहे थे। दुकान का एक तख़्ता भी अलग निकला पड़ा था, जिस पर चोर के हाथों के मैले-से निशान

नज़र आते थे। सेठ जी ने भीतर की तरफ़ इशारा करते हुए कहा—'हुजूर, सात गाँठों की सील टूटी है। मैं गंगाजली उठा कर कह सकता हूँ कि कल रात को मैं अच्छी तरह सारी सीलबन्द गाँठों को देख-सँभाल और खूब अच्छी तरह मजबूती से ताले लगवा कर घर गया था। परमात्मा जाने······।'

'अच्छा, इन गाँठों के समान की फेहरिस्त कहाँ है ?' साहब ने पूछा।

'अभी लाया सरकार'—कह कर सेठ जी दुकान में गए और कुछ क्षण बाद फेहरिस्त ला कर साहब के हाथ में दे दी।

साहब अभी फेहरिस्त का मुआइना ही कर रहे थे कि दरोगा जी कुछ कानस्टेबलों के साथ जतीन को लिये आ पहुँचे। उसके दोनों हाथ एक रस्सी से बन्धे थे, जिसे एक कानस्टेबल ने अपनी कमर में बांध रखा था। बाक़ायदा साहब को सलाम कर उन्होंने कहा—'हुजूर, यह जतीन मण्डल। और यह कपड़ा (एक कानस्टेबल से कपड़ा लेकर साहब के सामने करते हुए) इसके यहाँ से बरामद हुआ है। बाकी कपड़ों का कुछ पता नहीं चला। इसकी औरत भी घर से ग़ायब है।'

साहब ने एक सरसरी निगाह कपड़े पर डाली और फिर जतीन के हतप्रभ चेहरे की ओर देखते हुए बोला—'शक्ल से ही यह आदमी चोर और बदमाश जान पड़ता है।'

दरोगा जी ने फिर साहब से सलाम कर कहा—'जी हाँ, हुजूर। आप भला कभी इन्हें पहचाने में ग़लती करेंगे ?' और फिर सेठ जी की ओर देखकर मन्द मुस्कराहट के साथ धीमे स्वर में कहा—'आप अब बेफिक्र रहिए, सेठ जी। आपके सारे माल का पता इस पाजी से न लगाया, तो मेरा भी नाम क्या ?'

हाथ जोड़ कर सेठजी ने दरोगा जी और साहब की तरफ मुख़ातिब

होकर कहा—'आप लोग माई-बाप हैं सरकार। आप खुद देख लीजिये कि चोरी तो ऐसे बदमाश करते हैं और मारे हम ग़रीब जाते हैं। सब हम पर शक करते हैं और हमारी इज़्ज़त के दो टके करते हैं।'

घड़ी देखकर साहब कुर्सी पर से उठ खड़ा हुआ। बोला—तुम घबराओ नहीं सेठ रामसुख, जब तक हम इस इलाक़े में हैं, तुम पर कोई आँच नहीं आयेगा। हम हमेशा इन्साफ ही करता है—दूध का दूध और पानी का पानी।'

'इसमें क्या शक है, सरकार।'—हाथ जोड़कर सेठजी ने बना-वटी हँसी से कहा—'हम तो बस आपके आसरे ही यहाँ पड़े दिन काट रहे हैं, वैसे कमाई-धमाई तो कानी कौड़ी की भी नहीं रही आजकल।'

बिना कुछ कहे साहब मोटर की ओर बढ़ा। दरोगा जी ने धीमे स्वर में सेठ जी से कहा—'साहब को सिगरेट तो पेश कीजिये।' सकपका कर सेठजी साहब के पीछे लपके और बोले—'हुज़ूर पान तो खाते नहीं सिगरेट ही पेश करूँ? और कुछ तो इस ग़रीब बनिए की दुकान पर ···है···है।'

'नहीं, नहीं, कोई बात नहीं'—साहब ने मोटर में बैठते हुए कहा—'अभी सिगरेट-विगरेट कुछ नहीं चाहिए।'

सेठ जी ने सुनकर साहब को सलाम किया और मोटर चल पड़ी। फिर मुड़कर दरोगा जी की ओर बढ़ते हुए हँसकर बोले—'आज आपका लोहा मान गये दरोगा जी। आइए, थोड़ी देर बैठकर चले जाइएगा।'

दरोगा जी ने जतीन को लेकर कानस्टेबलों को थाने जाने का आदेश दिया और स्वयं सेठ जी के साथ दुकान की ओर बढ़ते हुए बोले—'हम लोग भी पुलिस वाले हैं, सेठ जी। आख़िर इन २२ वर्षों तक सिर्फ भाड़ ही थोड़े ही झोंका है!'

'क्यों नहीं'—सन्तोष की सांस लेकर सेठ जी ने कहा—'आप

हो जैसे काबिल लोगों के भरोसे तो हुकूमत के सारे काम चलते हैं। वर्ना.........'

'अरे साहब, बन्दा किस क़ाबिल है, यह तो सब आपकी दया है।'

'हाँ, तो दरोगा जी, मुझे एक हफ़्ते के लिए कलकत्ता जाना है। वहाँ एक अखण्ड यज्ञ हो रहा है, जिसकी परसों पूर्णाहुति है। इसमें कोई सवा लाख रुपया खर्च हुआ है, जो अपनी ही गद्दी से दिया गया है और हिन्दू-कोड के विरोध का प्रचार भी कुछ कम हो रहा है, सो उसे भी जाकर जरा चेताना है। अब यहाँ तो कोई गड़बड़ी नहीं होगी न?'

'कोई गड़बड़ी नहीं। जब तक मैं यहाँ हूँ, आप बे फिकर रहिये।'

हाथ जोड़ कर बत्तीसी दिखाते हुए सेठ जी ने कहा—'सब आपकी मेहरबानी है, दरोगा जी। आपका हमको बहुत बड़ा सहारा है।' और फिर बाहर की तरफ देखकर बोले—'अरे ओ छोटू, कहाँ मर गया? जा, दरोगा जी के लिये कुछ चाय-वाय तो ला।'

दरोगा जी की आँखें इस समय छत का निरीक्षण कर रही थीं। सेठ जी ने विरक्ति से उनकी ओर देखा, फिर पास पड़ी पेटी की ओर और फिर छोटू के आगमन की प्रतीक्षा में बाहर की ओर देखने लगे।

७

चिन्मयी

चाय डालते हुए दीदी ने कहा—'आज छुट्टी है न ?' 'हाँ, है तो। क्यों, क्या बात है ?'—मैंने अख़बार पढ़ते-पढ़ते बिना नज़र ऊपर उठाए ही कहा।

'कहती हूँ; पहले यह बताओ कि क्या आज भी तुम्हें कोई ज़रूरी काम है ?'

'नहीं, कोई खास तो नहीं।'

'तो सुनो'—चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए दीदी ने कहा—'आज मुझे वह शरणार्थी औरतों वाला कैम्प ज़रूर दिखाकर लाओ। आज मैं कोई बहाना न सुनूँगी।'

इस बार मैंने न अख़बार पर नज़र उठाई, न कोई उत्तर ही दिया। कैम्प का नाम सुनते ही जैसे मेरे बँधे-रुके विचार सियालदह-स्टेशन के प्लेटफ़ार्म से लेकर उसके बाहर, सड़कों और गली-रास्तों तथा कलकत्ते के आसपास बिखरे कैम्पों के अनेकानेक दृश्यों में जा उलझे। इन वस्तुहारा उद्वास्तुओं की हर लहर के साथ जैसे मन-मस्तिष्क पर एक नई मूर्च्छना छाने लगी है। प्रकृति के उद्दाम आवेगों और खूँख़्वार-से-खूँख़्वार हिंस्र जन्तुओं पर इन्सान ने विजय प्राप्त कर ली है; पर इन्सान पर, अपने-आप पर वह विजय नहीं पा सका। यही नहीं, पतन और पराजय की सीमा-रेखा का भी जैसे वह एक पाशविक

आघात के साथ अतिक्रमण कर गया है। और फिर भी यह इन्सान अब तक इन्सान ही बना हुआ है !

मुझे चुप देखकर मानो दीदी का धैर्य छूटने लगा। तनिक उद्विग्न स्वर में उस ने कहा—'चुप क्यों हो गए ? क्या आज भी टालने के लिए कोई नया बहाना सोच रहे हो ?'

'नहीं—मैंने अन्यमनस्क भाव से दीदी के भोले-भाले चेहरे की ओर देखते हुए कहा—'टालने की बात तो नहीं है, मेरी अच्छी दीदी। पर मैं यही सोच रहा था कि आखिर कैम्प देख कर भी क्या होगा ? जिन पर इन्सान की शैतानियत वज्र बन कर टूटी है, उन की कष्ट-कहानी सुनकर आँखों में पानी भर लाना, उन के साथ दया और ज़बानी सहानुभूति दिखाना, उन्हें धीरज और हिम्मत बँधाना और सरकार सब-कुछ ठीक कर देगी आदि-जैसी चिकनी-चुपड़ी और अर्थ-दायित्व हीन छूँछी बातें कर के उन्हें झूठा आश्वासन देना मेरी समझ में तो धूर्त्तता और कपट के सिवा और कुछ भी नहीं है। मेरे मन में तो ऐसी बातों और उन्हें करने वाले व्यक्तियों के प्रति भारी जुगुप्सा-सी भर गई है।'

दीदी की आँखें झुक गईं। मुझे ऐसा लगा कि आवेश में मैं जो-कुछ कह गया, वह बेचारी शायद उसका ठीक-ठीक अभिप्रेतार्थ ही न समझ सकी होगी। उसकी शिक्षा-दीक्षा न कुछ के बराबर है। घर, स्कूल और कभी-कभी पार्क-सिनेमाघर के सिवा अभी उस ने ज़िन्दगी में देखा भी क्या है ? 'दान' 'धर्म' और 'दया' के नाम पर इस अज्ञानी-अन्धविश्वासी देश में जो मिथ्या और कपटाचार प्रचलित है, वह उसे कैसे समझती ? मैंने अपनी भूल महसूस की। यद्यपि दीदी के मन में मेरे लिए पर्याप्त आदर और श्रद्धा है और कभी उसने मेरी बात पर अविश्वास नहीं किया; फिर भी कहीं मेरी बातों को वह

कैम्प दिखाने के चलने की बहाने बाज़ी की भूमिका ही समझ ले, अतः मैंने उसके पास जाकर कहा—जल्दी से कपड़े बदल लो; साढ़े आठ वाली गाड़ी से चलेंगे। मैं तब तक स्नानादि से निवृत्त हो लेता हूँ !'

दीदी की बाछें खिल गईं। ज़रा मुँह बनाकर शरारत के स्वर में उसने कहा—'थैंक यू, दादा !'

२

जब हम लोग कैम्प के दरवाज़े पर पहुँचे, सदर फाटक पर कोई न था। आसपास भी कोई नज़र नहीं आया। भीतर घुस कर हम लोग दाहिनी ओर वाले पहले कमरे की ओर मुड़े। कमरे के ऊपर लिखा था—'दफ़्तर' और उसी के नीचे 'प्रवेश-निषेध'। दरवाज़े के बाहर खड़े होकर हमने देखा—कमरे में कोई न था। एक पुरानी मेज़ पर एक रजिस्टर खुला पड़ा था, जिसके सफ़े पूरी रफ़्तार पर चलने वाले बिजली के पंखे की हवा में फड़फड़ा रहे थे—मानों दोनों में व्यर्थता की होड़ लगी हो ! पास ही एक पुरानी दवात, जिसका बाह्यांग स्याही से रँग गया था, मानो फाउन्टेन-पेन के आविष्कार के बाद से चिर-उपेक्षिता-परित्यक्ता की तरह जलनकुढ़न से कोयला बनी निर्जीव-सी पड़ी थी। कमरा भीतर और बाहर से मानो गृह-निर्माण-कला की अच्छी ख़ासी पैरोडी-सा लगता था !

'दफ्तर' से दृष्टि हटाकर जब हमने पीछे मुड़कर देखा, तो कुछ वैसे ही कमरों की, जो युद्ध-काल में फौजियों के अस्थायी उपयोग के लिए बनाए गए कच्चे मकान-भर थे, एक लम्बी क़तार-सी दिखाई दी। कमरों के बाहर टिन से छाया हुआ एक लम्बा बरामदा चला गया था। थोड़ी-सी दूरी पर कुछ स्त्रियाँ चलती-फिरती दिखाई दीं। दीदी ने उस ओर क़दम बढ़ाया ही था कि मैंने सधी हुई आवाज़ में कहा—

'ज़रा ठहरो, अध्यक्षा को इजाज़त लिए बिना हमारा आगे बढ़ना ठीक नहीं।'

'पर अध्यक्षा कोई कहीं हो तब न ?'—दीदी ने ज़रा खीझ के साथ कहा।

मैं चुप रहा। इसी समय सामने से एक युवती आती हुई दिखाई दी। ज़रा पास आने पर देखा कि वह कैम्प की अध्यक्षा नहीं हो सकती; क्योंकि बाल उसके बिखरे-उलझे थे, शरीर पर की धोती और ब्लाउज़ बहुत मैले और फटे हुए थे। पाँव धूल के ही रंग के हो गए थे। उसकी डगमाती चाल और विवर्ण चेहरे को देख कर तो ऐसा लगा, मानो कोई बड़ी संगीन उलझी हुई गंभीर समस्या शरीर धारण कर मूर्त्त हो उठी हो। हमारे पास पहुँच कर वह रुकी। बड़ी स्थिर और तीखी दृष्टि से उसने क्रमशः मुझे और दीदी को और फिर दीदी को और मुझे आँखें फाड़-फाड़ कर देखा। फिर सहसा अपना निचला होंठ काट लिया और क्रोध से काँपते हुए चिल्लाने के स्वर में बोली—'निकलो यहाँ से, पाज़ी कहीं के! कितनी बार तुम से कह दिया कि मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगी, नहीं चलूँगी। क्यों तुम हाथ धोकर मेरे पीछे पड़े हो ?'

मैं और दीदी हक्का-बक्का रह गए! न जान न पहचान और यह कठोर भर्त्सना! शोर सुन कर एक-दो स्त्रियाँ उधर आईं और दूर से ही खड़ी होकर हमें देखने लगीं। इसी बीच पीछे से एक चश्माधारी प्रौढ़ा ने, जिस के कपड़े दूसरों से साफ़ थे, आगे बढ़कर मुझे और दीदी को एक प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा और फिर उस स्त्री तथा मेरी ओर देखकर बोली—'क्या आप इसे लेने आए हैं ?'

मैं सन्न रह गया! किसी तरह साहस कर कहा—'जी नहीं, मैं तो इसे जानता तक नहीं। मैं तो अपनी बहन को कैम्प दिखाने लाया हूँ।'

'ओः !'—प्रौढ़ा ने एक ठण्डी साँस लेकर निश्चिन्ततापूर्वक कहा और फिर उस स्त्री की ओर देखकर ज़रा डपट के स्वर में वे बोली—'चिनू, तुम अपने कमरे में जाओ, फौरन जाओ।'

भय-विह्वल हरिणी की तरह उस युवती ने क्रमशः मेरी और प्रौढ़ा की ओर देखा। फिर बिना कुछ बोले मुड़ी और शिथिल चरणों से लौट पड़ी। मुझे उसकी इस क्रिया से कुछ ऐसा आभास मिला, मानो वेदना-मूर्छित होकर विवशता के कन्धों पर बैठी चली जा रही हो।

प्रौढ़ा ने मेरा ध्यान भंग करते हुए कहा—'देखिए, यह स्त्रियों का कैम्प है। आप को बिना इजाज़त लिए अन्दर नहीं आना चाहिए था।'

मुझे ऐसा लगा कि इस मूर्खा के एक थप्पड़ लगाकर इससे कहूँ कि इजाज़त किस से और कहाँ लेता ? पर अपने-आप को सम्हालते हुए मैंने कहा—'आप का कहना बिल्कुल दुरुस्त है; पर न तो सदर फाटक पर कोई है और जब मैं आप के दफ़्तर की ओर पहुँचा, तो देखा कि आप शायद इंस्पैक्शन-राउण्ड पर गई हुई थीं। इसीलिए हम दोनों यहाँ बाहर ही खड़े हो गए। आप यदि अनुमति दें, तो ज़रा घूमकर देख आवें।'

अधिकार-सुलभ उद्दण्डता से अध्यक्षा ने कहा—'क्या करेंगे आप कैम्प देखकर ? यह कोई मेला-तमाशा तो है नहीं। न-जाने कितने लोग—मिनिस्टर, नेता, अफ़सर, कार्यकर्त्ता आदि—रोज़ आते हैं, घूम-फिर कर न-जाने क्या देखते हैं, बड़ी-बड़ी बातें बनाते हैं और चले जाने के बाद करते-धरते कुछ नहीं। आज सुबह ही एक मन्त्री महोदय प्रान्त के बड़े डाक्टर के साथ आए थे। सब-कुछ देख-सुन कर बोले कि शरणार्थी महिलाओं को खाना अच्छा नहीं मिलता; उसे पकाने

को व्यवस्था बड़ी अस्वास्थ्य कर है; उनके रहने, नहाने, शौच जाने, सोने आदि की व्यवस्था भी बड़ी गन्दी है; रोगियों के इलाज और उन्हें अलग रखने की कोई ठीक व्यवस्था नहीं—आदि-आदि। पर जब मैंने पूछा कि इस सम्बन्ध में सरकार को शीघ्र कुछ करना चाहिए, तो ललाट में सिकुड़न डालते हुए बोले कि सरकार के पास न आदमी हैं, न रुपया; वह भला करे तो क्या करे? इससे मेरा भी अब किसी से कुछ कहने-सुझाने का उत्साह नहीं रह गया है। ख़ैर, आप जब इतनी दूर से चलकर आए हैं, तो देख लीजिए कैम्प घूम-फिर कर।'

डूबते को जैसे तिनके का सहारा मिला। मैंने कहा—'इस कृपा के लिए धन्यवाद।'

वे बोलीं—'नहीं, धन्यवाद की इस में कोई बात नहीं। हाँ, एक बात तो बताइए: क्या आप भी किसी मिनिस्टर के दोस्त हैं?'

'नहीं तो'—मैंने साश्चर्य कहा—'आख़िर आप को यह भ्रम अन्यथा कैसे हुआ?'

'वैसे ही; आप के खद्दर के कपड़े देखकर अनुमान लगाया। कुछ अन्यथा न समझिएगा। बात यह है कि अनेक खद्दरधारी यहाँ आए, बड़ी-बड़ी बातें कीं, मगरमच्छ के-से दो-एक आँसू भी उन में से कुछ अभिनेताओं की आँखों से निकले; पर किया किसी ने कुछ नहीं। हाँ, जाकर उच्चाधिकारियों से यह ज़रूर कहा कि कैम्प की अध्यक्षा अयोग्य है, उद्दण्ड है, ग़ाफ़िल और बड़बोली है!

मैं अपनी हँसी न रोक सका और मन-ही-मन प्रसन्न हुआ कि चलो, आगन्तुकों ने एक सार्वजनिक सेवा तो की! अध्यक्षा ने दफ़्तर की ओर क़दम बढ़ाते हुए कहा—'अच्छा, तो जाइए; देख आइए कैम्प। अधिक समय न लगाइएगा और कैम्पवासिनियों की शिकायतों पर विशेष ध्यान न दीजिएगा। अपनी बातों को बढ़ा-चढ़ाकर कहना और सब के

सामने शिकवा-शिकायतों का रोना लेकर बैठ जाना उन का स्वभाव-सा हो गया है।'

'और शायद उनकी बातों पर ध्यान न देना हम लोगों का स्वभाव हो गया है।'—मैंने सहज भाव से कह दिया।

अध्यक्षा ने एक तीखी दृष्टि मुझ पर डाली और फिर बिना कहे दफ़्तर की ओर चल पड़ी। उनकी दृष्टि का तिरस्कार मानो तेज़ाब बनकर मुझ पर बिखर गया।

३

कैम्प-जीवन की एक संक्षिप्त-सी झाँकी हम लोगों को मिल चुकी थी। उसके बाद हमें क्या देखने को मिलेगा, इसका भी कुछ अनुमान होने लगा था। जब हम दोनों आगे बढ़े, तो पग-पग पर सूनी-बुझी आँखें हमारी ओर उठीं—जलन से अधिक हमें उन में विवशता ही दिखाई दी। उन से कुछ पूछने का जैसे साहस ही नहीं जुटा पा रहा था। मैंने दीदी को सम्बोधित कर कहा—'ये सीता-सावित्री की उत्तराधिकारिणी हैं! पूछो इन से कि क्या बीती है इन पर?'

दीदी कुछ न बोली। मैंने देखा, उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहने लगी थी। हमारे इर्द-गिर्द आने-जाने वाली स्त्रियों के कपड़ों से ज़्यादा उनके चेहरे और शरीर देखकर एक सिहरन-सी होती थी और मन बार-बार पूछता था; क्या यही है तुम्हारा वह देश, जहाँ नारियों की पूजा होती थी? और फिर जैसे मन में ही एक अजीब-सा तर्क-वितर्क छिड़ जाता था। हिन्दू-मुस्लिम-दंगे, तथाकथित अपहरण और बलात्कार तो कल शुरू हुए हैं। पर क्या इनसे पहले अपने घरों में—पीहर और ससुराल में—ये अज्ञान और अन्धविश्वास पतन और शोषण, रूढ़ियों और अन्ध-परम्पराओं की शिकार कठपुतलियाँ स्वस्थ और सुखी थीं? क्या सचमुच इससे पूर्व राम और सत्यवान के

उत्तराधिकारियों ने इन्हें सीता और सावित्री की—एक सामान्य नारी तक की भी—इज़्ज़त और मर्यादा दे रखी थी? क्या अपने ही घरों में, समाज और धर्म की अनुमति से, इन पर बलात्कार और अमानुषिक अत्याचार नहीं हुए? पुरुष-नामधारी जिस अन्धे पशु ने इन्हें केवल अपनी शिश्नोदरपरायणता की पूर्ति का एक सस्ता साधन-मात्र बनाकर रखा, जो पुरानी जूती की तरह कभी भी बदला जा सकता था; जिन्हों ने वयस्क होने से पहले ही अपने-आप को विवाह-नामधारी बलात्कार कारण मातृत्व के दुर्वह बोझ से दबा पाया, नारीत्व और सतीत्व की संज्ञा का ठीक-ठीक बोध भी जिन्हें कभी नहीं हुआ—आर्त्त-क्रन्दन, आत्म-समर्पण और भय से पलायन के सिवा उन से और आशा भी किस बात की जा सकती है?

मैं अपने विचारों में कुछ इस तरह बहा चला जा रहा था, मानो कोई नींद में चल रहा हो। सहसा रुक कर मैंने देखा, तो दीदी को नहीं पाया। पीछे मुड़कर देखा, तो कई क़दम पीछे उसे एक बड़े कमरे के बाहर कई शरणार्थियों से घिरे खड़े देखा। मैं भी उस ओर चला। पास पहुँच कर रुका, तो एक महिला को दीदी से कहते सुना—बहन, तुम लोग तो मज़े में हो। हमारे दुःख-कष्ट की तुम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। कालीमाई फिर कभी किसी को ये दिन न दिखायँ।'

एक दूसरी स्त्री बोली—'तू भाग्यशालिनी है बेटी, जो वहाँ न थी; अन्यथा तुझ-जैसी लड़की को ये छोड़ते? स्त्रियों के साथ जो-कुछ बीती है, मुंह से कहने की बात नहीं।'

अभी शायद वह कुछ और कहती, पर दीदी ने उसकी बात काटते हुए बीच ही में पूछ दिया—'तुम्हारे साथ भी वैसी कोई दुर्घटना हुई क्या?'

'भगवान् बचाय, बेटी'—महिला ने आँखें फाड़कर कहा—और मेरी क्या वह उम्र है ? पर हाँ, पचासों के साथ तो वह सब हुआ ही है।'

'यह तो मैं बहुतों से सुन चुकी हूँ। पर मैं किसी ऐसी शरणार्थिनी से बात करना चाहती हूँ, जिस पर स्वयं ऐसा-कुछ बीता हो।'

आसपास खड़ी हुई स्त्रियाँ सकपका-सी गईं और एक विचित्र क़िस्म का सन्नाटा छा गया। दीदी ने फिर पूछा—'आप लोग मुझे ऐसी किसी महिला से मिलाइए न, या मुझे उसका नाम बताइए, मैं स्वयं ही जाकर उससे मिल लूँगी।'

इसी समय पास खड़ी एक स्त्री आँचल में मुँह छिपाकर सिसकने लगी। दीदी उसके पास गईं और कई बार कई तरह से पूछा, पर उसने कोई उत्तर नहीं दिया और बराबर सिसकती रही। यह पूछने पर कि उसके आगे-पीछे कोई है, उसने केवल नकारात्मक ढंग से सिर-भर हिला दिया।

द्वार से मैंने बड़े कमरे में झाँका। इकहरी ईंटों की चहारदीवारी के बीच में गर्मी से तड़फड़ाते और कीड़ों-से बिलबिलाते हुए वृद्ध, बच्चे, स्त्रियाँ आदि एक नरक का-सा दृश्य उपस्थित कर रहे थे। पसीने, क़ै; पाख़ाने, पेशाब आदि की मिली-जुली बदबू से कमरा मानो भभक रहा था। हिन्दुस्तान के किसी भी स्टेशन के तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरख़ाने से कोई हज़ारगुना ज़्यादा गन्दा और बदबूदार होगा यह स्थान। बीच-बीच में बच्चों के रोने, स्त्रियों के कराहने और वृद्धों के बेभान हो पड़ने से वातावरण की मनहूस उदासी मानो मरघट की-सी विभीषिका धारण कर लेती थी। बाहर बरामदे में भी वही हाल था। कहीं कोई बीमार पड़ी कराह रही है, तो पास ही कोई माँ अपने बच्चे को पेशाब-पाख़ाना करा रही है। कहीं कोई कपड़े धो रही है,

तो कोई किसी के सिर को जुएं निकाल रही है। इस सारे दृश्य को देखकर ऐसा लगता था, मानो इन्सान सभ्यता-संस्कृति की जितनी सीढ़ियाँ अब तक चढ़ पाया था, हठात् एक ही झटके में उन सबसे फिसल कर फिर नीचे आ गिरा है।

देखा, दीदी की बातों का क्रम ख़त्म ही नहीं हो रहा है। अतः ज्यां ही मैं चलने को कहने उसके कुछ नज़दीक गया नहीं कि एक शरणार्थिनी को कहते सुना—'आप चिन्मयी से ज़रूर मिलिए। उसे देखकर आपको पूर्वी बंगाल की नारियों की भर्त्सना का कुछ आभास होगा।'

'चिन्मयी! कौन है वह?'—दीदी ने पूछा।

'अभी तो यहीं थी। देखती हूँ, कहाँ गई चुड़ैल?'—कहकर एक स्त्री उसे इधर-उधर ढूँढ़ने लगी।

पर वह कहीं भी दिखाई न दी और फिर कभी आने तथा जो-कुछ हम से बन पड़ेगा, करने का आश्वासन देकर हम लोग लौट पड़े।

४

अध्यक्षा से विल लेकर ज्यों ही हम लोग सदर फाटक की ओर बढ़े, तो देखा कि कैम्प के चारों ओर लगी कंटीलें तारों की जाली को कातने वाले एक लकड़ी के खम्भे को दोनों हाथों से पकड़े कोई स्त्री खड़ी है और अकेली ही, मानो उसको सम्बोधित करके, कह रही है—तुम्हारा क्या, नुक़सान तो मेरा होगा। नहीं, नहीं, मुझे छोड़ दो। भगवान के लिए मुझे जाने दो।' और बिना खम्भे से हाथ हटाए ही जैसे वह भागने का प्रयत्न कर रही हो। बात कुछ हँसी की-सी थी, पर मेरा मन यह देखकर, न-जाने कैसा होने लगा और अनायास पाँव उसकी दिशा में बढ़ गए।

हम लोगों के निकट पहुँचने पर, शायद हमारे पाँवों की आहट

पाकर, उसने पीछे मुड़कर देखा। मुझे पहचानते देर न लगी कि यह वही युवती है, जिसे कैम्प में प्रवेश करने के बाद हम लोगों ने सब से पहले देखा था। उसकी आँखें सजल थीं और वह सचमुच रो रही थी। अवाक् शून्य दृष्टि से उसने क्रमशः मुझे और दीदी को देखा और फिर काँपती हुई आवाज़ में कहा—'तुम फिर आ गए? हटो, दूर हटो यहाँ से। अब मैं तुम्हारी ठगाई में नही आऊँगी।'

मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही दीदी बोल उठी—'हम तुम्हें लेने नहीं आए हैं, बहन '

अभी दीदी का वाक्य पूरा भी नहीं हो पाया था कि युवती ने पूरी तरह दीदी की ओर मुखातिब होकर दाँत पीसते हुए कहा—'बहन! तू मेरी किस जनम की बहन है री, चुड़ैल, डायन, नीच, कुटनी कहीं की!'

उसे क्रोध से काँपते देख कर मुझे स्थिति भाँपते देर न लगी। मैंने बड़े विनम्र भाव से कहा—'चिनूदी, हमारा विश्वास करो; सच कहते हैं कि हम तुम्हें लेने नहीं आए हैं '

मेरा वाक्य भी अभी पूरा नहीं हुआ था कि बड़े नाटकीय ढंग से दीदी पर से नज़र हटाकर मुझे घूरते हुए वह बोली—'ओह! तो तुम मेरा दाम भी पूछकर मालूम कर आए हो! बड़े भारी धूर्त हो! और दोनों हाथों से मेरा कुर्त्ता पकड़कर लगभग चिल्लाने के स्वर में बोली—'तुम्हें ज़िन्दा चबा जाऊँगी, समझे! मैं अब वह चिन्मयी नहीं हूँ, जिसकी अस्मत और देह से मुसलमान खेले, हिन्दू भी खेलें और··· और फिर···'

वाक्य पूरा किए बिना ही वह चुप हो गई और मेरा कुर्त्ता छोड़ दोनों हाथों से अपना मुँह ढाँप फफक-फफककर रोने लगीं। मेरी कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्या करूँ?

इसी बीच किसी ने कठोर स्वर में पीछे से पुकारा—'चिनू, ओ चिनू, यह क्या हो रहा है ?'

मैंने पीछे मुड़कर देखा' अध्यक्षा स्वयं हमारी ओर आ रही थीं। पास आकर उन्होंने फिर डपटने के स्वर में चिन्मयी से कहा—'चिनू, तुझे कितनी बार समझाया कि इधर न आया कर। बता, क्यों आई थी इधर ?'

सहसा चिन्मयी का रोना बन्द हो गया। एक क्षण उसने अध्यक्षा की ओर देखा, जो हाथ में रूल लिए साक्षात् चण्डिका बनी हुई थी, और बिना कुछ कहे ही वहाँ से भाग गई '

मैंने अध्यक्षा से पूछा—''यही चिन्मयी है न ?'

'हाँ, यही ; और मेरे लिए एक बहुत बड़ी समस्या भी। मैं तो सबसे कह-कहकर हार गई कि इसे किसी पागलखानेमें भिजवा दिया जाय, पर कोई सुनता ही नहीं। आश्चर्य नहीं, यदि यह किसी दिन किसी शरणार्थिनी या उसके बच्चे को मार डाले या स्वयं सड़कपर किसी बस या लारीके नीचे आ जाय।'

मैंने अध्यक्षासे कहा—'आपको आज बहुत कष्ट दिया। केवल धन्यवाद देकर तो कृतज्ञता ज्ञापनकर आपके एहसानसे उऋण नहीं हुआ जा सकता। पर आप यदि क्षमा करें, तो जानेसे पहले एक कष्ट और देना चाहता हूँ।'

'वह क्या ?'—किंचित् आश्चर्य से अध्यक्षा ने पूछा।

'कृपया मुझे चिन्मयी के बारेमें कुछ बतायँ। उससे कुछ जान सकना तो संभव नहीं और उसके बारेमें जो सहज ही उत्सुकता उत्पन्न हुई है, उसे दबा सकना भी संभव नहीं।'

'अच्छा, दफ़्तर में चलिए।'—कहकर अध्यक्षा दफ़्तर की ओर चलीं और उनके पीछे-पीछे दीदी और मैं हो लिए।

दफ़्तरमें पहुँचकर उन्होंने उसका जो इतिवृत्त बताया उसका सारांश इस प्रकार है:—पूर्वी बंगालके एक छोटे-से गाँवमें चिन्मयीका जन्म हुआ था। बाप एक मामूली-सी परचूनकी दुकान करता था और माँ गाँव के ज़मींदार के यहाँ कुछ ऊपरी काम-काज कर आती थी। चिन्मयी अक्सर माँके साथ ज़मींदारके घर आया-जाया करती थी। जब वह ६-७ वर्षकी थी, एक दिन ज़मीदारका बड़ा लड़का, जो कोई १२-१३ वर्षका होगा, उसे छतपर एक 'नया खेल' सिखाने ले गया। इसी बीच सूर्यको अर्घ्य चढ़ाने ज़मीदारकी स्त्री छतपर आई। उसने दोनोंको वहाँ देख दोनोंको ही बुरा-भला कहा और नीचे लाकर चिन्मयीकी खूब पिटाई की। ज़मींदारके भोले-भाले और सुशील लड़केको बिगाड़नेके आरोप में उसी दिनसे चिन्मयीका उस घरमें आना-जाना बन्द कर दिया गया।...चिन्मयीकी माँ जब हैज़से मर गई और चिन्मयी की देख-रेख करनेवाला कोई न रहा, तो उसके बापने उसे गाँवके ही एक युवकसे ब्याह दिया, जो ज़मीदारकी कचहरीमें कुछ काम करता था। विवाहके समय चिन्मयीकी उम्र ६॥ वर्षकी थी। पति और सासके सारे हुक्म उठानेपर भी वह उन्हें जँची नहीं और उसे रोज़ गालियों, तानों और पिटाईका पुरस्कार मिलने लगा। विवाहके कोई एक वर्ष बाद उसे मालूम हुआ कि उसका पति गाँवकी किसी विधवाको लेकर कहीं भाग गया है। कई लम्बे वर्ष उसने पतिके लौटने की आशा और प्रतीक्षामें बिता दिए। एक दिन उसकी सास भी उसे निराश्रय छोड़ सदाके लिए चल बसी और उसे फिर पिताके घरकी शरण लेनी पड़ी।...१६४६ के उत्तरार्धमें कई तरहकी अफ़वाहें उनके गाँवमें पहुँचने लगीं। एक दिन साम्प्रदायिक दंगेकी आग भी पहुँची। चिन्मयीका पिता मार डाला गया, उसकी दुकान लूट ली गई और उनका कच्चा मकान जलाकर राख कर दिया गया। चिन्मयीको गुण्डे पकड़ ले गए। उन्होंने उसे

एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भेजा और न-जाने क्या-क्या ज़ुल्म-ज़्यादतियाँ कीं उसके साथ। आख़िर एक नेक मुसलमानने उनसे उसका उद्धार किया और उसे असहाय जानकर कुछ हिन्दू-शरणार्थियोंके साथ पश्चिम-बंगाल भेज दिया। यहाँ पहुँचकर वह सन्तोषकी साँस भी न ले पाई थी कि उसने अपने-आपको शरीफ़ गुण्डोंके चंगुलमें पाया! कोई उसे सहायता और काम दिलानेके बहाने ले गया, तो कोई उसके किसी सम्बन्धीका दोस्त बनकर उसके यहाँ पहुँचानेके बहाने ले गया और सभीने उसे अपनी पाशविक वासनाओंका शिकार बनाया। अन्ततः एक कुटनी उसकी संरक्षिका बनी, जिसने २५०) रु० में उसे किसी वेश्याके हाथ बेच दिया। वहींसे कुछ समय बाद उसका उद्धार कर कैम्पमें लाया गया। एक के बाद दूसरा आघात सहकर उसकी यह अवस्था हुई है। पर डाक्टरोंका कहना है कि शायद कुछ दिन बाद उसका दिमाग़ ठीक हो जाय।

उसका दिमाग़ शायद कभी ठीक हो भी जाय, पर क्या हमारे देशके पुरुष-समाजका दिमाग़ भी कभी सचमुच ठीक होगा?—मन-ही-मन यही प्रश्न दुहराता हुआ अध्यक्षाको धन्यवाद देकर मैं घर लौट आया। तबसे बराबर चिन्मयीका नाम और चेहरा मानों स्मृति-पटपर एक जलता हुआ प्रश्न-चिन्ह् बनकर धधकता-सा रहता है।

८

अपना राज

कणिका की माँ को कलाई पर बँधी घड़ी दिखाते हुए निवारण बाबू ने कहा—'देखे अपनी सुपुत्री के लच्छन, नौ बजने आए और अभी तक उसका कहीं कुछ पता ही नहीं !'

कणिका की माँ ने कणिका के हिस्से का भात एक थाली में रखकर उस पर दूसरी थाली ढँकते हुए सहज भाव से कहा—'अब आती ही होगी। कहीं सखी-सहेलियों में बैठ गई होगी। आख़िर इतने अधीर क्यों हो रहे हो ?

'हाँ, बैठ गई होगी सखी-सहेलियों में !' ज़रा व्यंग्य से निवारण बाबू ने कहा—'मुझे तो आजकल इसके रंग-ढंग अच्छे नहीं नज़र आते। तुम्हीं ने शह दे-देकर इसे सिर पर चढ़ाया है। अब देखना इसके करतब।'

'करतब क्या देखूँगी ?' ज़रा झल्लाकर कणिका की माँ ने कहा—'तुम जब-तब यह क्या बकने लगते हो। अगर ऐसा ही था, तो पहले उसे पढ़ाया क्यों ? बाहर घूमने-फिरने की आज़ादी क्यों दी ? शर्म नहीं आती तुम्हें अपनी ही लड़की के बारे में ऐसी बातें कहते ?'

निवारण बाबू चुप रह गए। इसी समय एक रिक्शा आकर उनके घर के द्वार पर रुका और किसी ने किवाड़ थप-थपाए। रिक्शा चल पड़ा कणिका ने दबी हुई आवाज़ में पीछे से कहा—'तो यही पक्का रहा नीलू, तू कल सविता और रूबी को लेकर मेरे यहाँ आयगी। फिर

हम तीनों मिलकर होस्टल चलेंगी। अच्छा, देर मत करना।'

कणिका की माँ ने जाकर दरवाज़ा खोला। भीतर प्रवेश करते ही कणिका ने कहा—'आज तो बड़ी देर हो गई, माँ! तुम्हें बड़ी देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी न? बड़ी ज़ोर की भूख लगी है। बाबा सो गए क्या ?'

'तुम-जैसी नालायक लड़की पाकर कोई पिता इतनी जल्दी निश्चिन्त होकर सो सकता है क्या?' निवारण बाबू ने आगे बढ़कर ज़रा रोष-भरे स्वर में कहा।

कणिका का चेहरा सूख-सा गया। निवारण बाबू का वह केवल आदर ही नहीं करती थी, स्वभाव की कठोरता के कारण उनसे डरती भी थी। उनके पास जाकर उसने विनीत स्वर में कहा—'मुझे क्षमा करें, बाबा। आज मीटिंग ही इतनी लम्बी हो गई कि चाहने पर भी मैं जल्दी घर नहीं आ सकी। साथ में हमारे कालेज की कई और लड़कियाँ भी तो थीं।'

'मीटिंग कैसी ?'

'सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर जो विशेष कानून बनाने जा रही है, उस के विरोध में आज एक विराट सार्वजनिक सभा थी।'

'तुम लोगों का दिमाग तो कहीं खराब नहीं हो गया है? क्या अब भी तुम समझती हो कि हम पन्द्रह अगस्त के बाद आजाद नहीं हुए?'

'यह आज़ादी तो एक धोखा मालूम होती है बाबा! जनता की यथार्थ आजादी तो अभी बहुत दूर है।'

'तो तुम्हारा मतलब है कि आज केन्द्र और प्रान्तों में जो शासन है, वह जनता के प्रतिनिधियों का नहीं है?'

'सिर्फ नाम भर के लिए जनता के प्रतिनिधियों का तो वह है, पर उसके हितों का प्रतिनिधित्व करने को नहीं। आज के शासक जनता

से अधिक धनियों और राजा—जमींदारों के हितू हैं। यदि ऐसा न होता तो अब तक क्या ये जनता की सुख सुविधा के लिए कागज़ी योजनाओं के सिवा कुछ भी नहीं करते ? गोरों की जगह कालों का सत्तारूढ़ हो जाना ही तो आज़ादी नहीं है, बाबा !'

'बस-बस, बन्द करो यह लेक्चर !'—निवारण बाबू ने भुँझला कर कहा।

उनकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि ये अजीब-अजीब-सी बातें कणिका के दिमाग में आखिर आई कैसे ? तर्क में जैसे वे उससे जीतेंगे नहीं, अतः उन्होंने पिता के अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—'कनू, तुम कल नीलू, सविता और रूबी के साथ होस्टल नहीं जाओगी !'

कणिका के गले में जैसे कोई बड़ा-सा पत्थर अटक गया हो। उसने आश्चर्य-चकित हो पिता के मुँह की ओर देखते हुए ज़रा गला साफ करके कहा—'यह आप कैसी बातें कर रहे हैं, बाबा ? और मैंने उन्हें जो वचन दिया है, उसका कोई मूल्य ही नहीं ?'

'वचन और मूल्य इस घर में मेरा चलेगा, कनू !' दृढ़ता के साथ निवारण बाबू ने कहा—'अगर तुम्हें मेरे घर में रहना है, तो यह आवारागर्दी छोड़नी होगी।'

'मुझे खेद है बाबा, आप शायद आवारागर्दी का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझते।'—कणिका ने जरा उत्तेजित स्वर में कहा।

'वह मुझे अब तुमसे नहीं समझना होगा, कनू।'

'न समझिये, मेरी बला से।' कणिका ने जरा और उत्तेजित होकर कहा—'पर बात जरा मुहँ सम्हाल के किया कीजिए।'

'ओहो',—व्यंग्य पूर्वक निवारण बाबू ने कहा—'तो मुझे अब पढ़ा लिखाकर तेरी ताड़ना भी सहनी पड़ेगी ! सुन कनू, मैं सरकारी पेंशनर हूँ। मेरे यहाँ रहकर सरकार का विरोध नहीं चलेगा।'

'आपके लिये कौन विरोध कर रहा है सरकार का ? आपकी ज़िन्दगी तो पूरी हुई। पर हमारी पीढ़ी के सामने तो अभी सारी ज़िन्दगी बाकी पड़ी है। हम लोग यदि राष्ट्रीयता के नशे में सरकार को जनता के मौलिक अधिकारों का इस तरह हनन एवं अपहरण करने देंगे और पूँजीपतियों तथा सामन्तों के मुट्ठी-भर दलालों को शासन के नाम पर स्थिर-स्वार्थों को सुरक्षित बनाए रखने देंगे, तो हमारा जीवन हिटलर और तोजो के क़ैदखानों से बेहतर थोड़े ही होगा।'

'कनू, पता नहीं, तुम्हारे दिमाग़ में यह भ्रम किसने पैदा कर दिया है। कैसी बहकी-बहकी बातें करती हो तुम ?'

'आप इसे भ्रम और बहकावा कहते हैं ? दरअसल यह वक्त की आवाज़ है। मेरे बुद्धि-विवेक की प्रेरणा है। मुझे तो ऐसा महसूस हो रहा है मानों १५ अगस्त से हम गोरे सार्जेंट की हाजत से निकलकर अब काले हवलदार की कैद में आ गए हैं।'

'मैं यह बकवाद नहीं सुनना चाहता !' निवारण बाबू ने कुछ झल्लाकर कहा—'तुम कल होस्टल नहीं जाओगी।'

कणिका कुछ नहीं बोली। आक्रोश के साथ तेजी से क़दम बढ़ाती हुई वह अपने कमरे की ओर चली गई।

२

होस्टल के सामने आकर मज़दूरों और छात्रों का वह लम्बा जलूस रुक गया और कई कण्ठों से एक साथ फूट पड़ा—'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !'

पहले जब कभी कणिका इन नारों को सुनती थी तो उसके सूखे होठों पर एक फीकी मुस्कराहट दौड़ जाती थी और दूसरे ही क्षण होठों में बल देते हुए व्यंग्यपूर्वक कह उठती थी—'जिस मुल्क में ज़बान से ज़िन्दाबाद कहकर भी यथार्थ में इन्क़लाब को दफ़नाया जाता हो, वहाँ

पता नहीं लोग ऐसे नारे क्यों लगाते हैं ? राम-राम की तरह इन्क़लाब ज़िंदाबाद कहने के भी शायद ये आदी हो गए हैं; मतलब इनका दर-असल कुछ नहीं होता। और मतलब की यहाँ परवाह भी किसे है ?'

लेकिन आज इस नारे को सुनकर उसका रोम-रोम सिहर उठा।

दूसरा नारा लगा—'नागरिक अधिकार नहीं छोड़ेंगे।

एक उल्लास भरी मुस्कराहट कणिका के चेहरे पर झाँक गई और दूसरे ही क्षण उसने कन्धे की रस्सी से बँधी सीटी को मुहँ में लेकर ज़ोर से फूँका। झिल्ली की झनकार की तरह वह तीखा स्वर वातावरण को एक बार कँपा गया और उसके विलीन होते-होते चुपचाप खड़ी सैकड़ों लड़कियों के पाँव क्रम से थप-थपकर आगे बढ़ चले। सभी सफेद निकर और हाफ़-शर्ट में थीं और सभी के सिर पर गाँधी टोपी थी। ईसाई और अधगोरी लड़कियाँ फ्राक पहने थीं और मुसलमान लड़कियाँ कुछ सलवार-कुर्तों में तथा कुछेक बुर्के में भी थीं। दो-दो की क़तार में उन्हें आगे बढ़ता देखकर जलूस में एक ताज़गी और जान-सी आ गई थी।

लड़कियों के जलूस के आगे-आगे चल रही थी कणिका। उसके दोनों हाथों में बाँस के एक ४-५ हाथ लम्बे डंडे के ऊपरी सिरे पर एक प्लैकार्ड लगा था, जिस पर लिखा था—'अंगरेजों की ग़ुलामी का अध्याय ख़त्म हुआ, अब हमारा मुक्ति-संग्राम आरंभ होता है !'

उसका चेहरा पसीने से तर हो रहा था। चश्मे के शीशों पर गर्द जम गई थी, किन्तु जैसे उसे साफ़ करने तक का भी उसके पास समय नहीं था। पीठ और बाहों पर पसीने से कपड़े चिपक गए थे। बिखरे हुए बाल हवा में चारों ओर उड़ रहे थे। सबके साथ उठते हुए उसके पाँवों को देखकर ऐसा जान पड़ता था मानों कायरता और अकर्मण्यता आज पंख लगाकर उड़ना चाह रही हों ! उस सामूहिक पद-चाप में

मानों आज आततायी के लिए एक चुनौती थी, अन्यायी के लिए एक दहशत थी और थी अल्पप्राण अत्याचारी के लिए उच्चाटन की एक तीव्र टंकार !

पीछे से तेजी से कदम बढ़ाते हुए नृपेन ने आकर कणिका के बराबर-बराबर चलना शुरू किया। उसके दोनों हाथों में थामा हुआ बड़ा सा झंडा तेज हवा के कारण जैसे उससे सध नहीं रहा था। कनखियों से कणिका की ओर देखकर उसने मन्द मुस्कराहट के साथ कहा—'दीदी, आज तो तुम बिलकुल जोन आफ् आर्क दिखाई दे रहो हो !'

दर्प से कणिका का चेहरा दमक उठा। पहले तो उसने नीचे का होंठ काट लिया, फिर बिना नृपेन की ओर देखे या अपनी चाल मन्द किए बोली—'जोन आफ् आर्क भी तो मेरे-तुम्हारे जैसे हाड-चाम-माँस की ही थी। पर उसका साहस और शौर्य आज कितनी लड़कियों में है निपू ?'

'तुममें तो है, दीदी !' सहज भाव से नृपेन ने कहा।

'यह बनने या बनाने का समय नहीं है, निपू !'—कणिका ने गंभीर होकर कहा—'जरा दोनों ओर खड़ी जनता के चेहरे तो देखो। उनपर जो भाव हैं, उन्हें पढ़ने और समझने की कोशिश करो। क्या किसी भी चेहरे पर तुम्हें आजादी की खुशी का, सन्तोष का, भाव दिखाई दे रहा है ? २०० वर्षों की कैद से मुक्त होने पर क्या ऐसा ही भाव चेहरे पर होना चाहिए। और हो भी कैसे ? इनके नये जेलर इनके लिये नया क़ैदखाना जो बना रहे हैं।'

'लेकिन ये लोग निरे पशु ही नहीं हैं, दीदी। जेल की दीवारों को तोड़ने की क्षमता है इनमें !'

'है निपू, इनमें वह क्षमता है। पर जरूरत है उसे जगाने की, इनमें उसका एहसास पैदा करने की। जिस दिन इनका आत्म-विश्वास जागेगा,

जिस दिन इन्हें अपनी शक्ति का सच्चा एहसास होगा, इनमें से ही डेढ़ पसली का अधभूखा-अधमरा हर इन्सान शक्ति का ज्वालामुखी बनकर धधकेगा। जनशक्ति की वह बाढ़ जीर्ण-शीर्ण व्यवस्था के कच्चे बाँध को पहले बहाव में ही बहा ले जायगी। यह दृढ़ विश्वास ही तो हमारी शक्ति है, निपू।'

कणिका और नृपेन के सधे हुए कदम बढ़ रहे थे और उनके पीछे समूचे जलूस के। अपनी बात कहने में कणिका इतनी उत्तेजित और भाव-विभोर हो गई थी कि उसे अपना, स्थान और परिस्थिति का तथा नृपेन की उम्र और समझ-बूझ का कुछ भी ध्यान नहीं रह गया था।

अब वे उस चौराहे पर आ गए थे, जहाँ प्यादे और घुड़सवार पुलिस एक जिन्दा दीवार बनी खड़ी थी। एक वर्दीधारी पुलिस अफसर ने कुछ आगे बढ़कर जैसे मुँह से गोली छोड़ी—'ठहरो!'

जलूस बिना एक क्षण भी रुके कणिका और नृपेन के कदमों से कदम मिलाता हुआ आगे बढ़ता गया। पुलिस की दीवार के २४ क़दम पास जाकर कणिका और नृपेन रुक गए। अफसर ने आगे बढ़कर कहा 'मैं आप लोगों से अनुरोध करूँगा कि आप आगे न बढ़ें। केन्द्रीय सचिवालय की ओर जाने की आज्ञा नहीं है।'

'आज्ञा नहीं है!' कणिका ने होंठों में बल देकर कहा—'किसकी?'

'प्रधानमन्त्री की,—आपने पत्रों में नहीं पढ़ा?'

'पत्रों में!' व्यंग्यपूर्वक कणिका ने नृपेन की ओर देखकर कहा—'ये पत्र हैं? सरकार के टुकड़खोर कुत्तों के ये गैरसरकारी गजट तो जब जिसकी सत्ता होती है, उसी की डुग्गी पीटना अपना धर्म समझते हैं। और प्रधानमन्त्री? पता नहीं कितनों को नौकरियों के वादे, ठेकों के आश्वासन और जनता के चन्दे की घूस देकर उससे बहुमत प्राप्त कर नेता बनने वाले ये नराधम हमें रोकेंगे? आप लोग हट जाइए, हमें जाने दीजिए।'

अफ़सर ने अपना धूप का चश्मा उतार कर समूचे जलूस पर एक सजग नज़र डाली और सहमी हुई आवाज़ में कहा—'हम हुक्म के आगे मज़बूर हैं। आप मान जाइए।'

कणिका ने ध्यान से देखा, अफ़सर का चेहरा कुछ पहचाना-सा नज़र आरहा है। उसने स्मृति को टटोला। धीरे-धीरे जैसे कुछ याद आने लगा। सहसा ५-६ वर्ष पहले के उसके कंधों और पीठ के घाव जैसे फिर जल उठे! उसे याद आया कि यह तो वही अफसर है, जिसने अगस्त १९४२ में कांग्रेसी नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में निकले छात्र-छात्राओं के जलूस पर पहले लाठियाँ और फिर गोलियाँ चलवाई थीं। शायद इसी की गोली से कणिका ने अपना एकमात्र भाई प्रशांत हमेशा के लिए खो दिया था। शायद इसीके डण्डे से कणिका की पीठ और बाईं कनपटी से खून बहा था। शायद इसी ने···

सहसा कणिका का हाथ पीठ पर होता हुआ बाईं कनपटी सहलाने लगा।

कणिका को निर्निमेष दृष्टि से अपनी ओर ताकता देखकर अफसर ने हतप्रभ होकर पूछा—'आप कुछ कहना चाहती हैं? आख़िर इस तरह क्या देख रही हैं आप?'

कणिका ने अपना निचला होंठ काट लिया। फिर क्रोध को दबाने की विफल चेष्टा करते हुए बोली—'देख रही हूं, तुम पुराने और चिर-परिचित पापी हो। चाँदी के चन्द टुकड़ों के लोभ ने तुम्हारे बुद्धि-विवेक को कितना भ्रष्ट और कलुषित बना दिया है। अगस्त १९४२ में तुम्हीं ने माई-बाप ब्रिटिश सरकार की अस्तित्व-रक्षा के लिए न मालूम कितने निरीह-निहत्थे व्यक्तियों को जीवन-भर के लिये अपाहिज बनाया, कितने आशा आकांक्षा भरे आज़ादी के सैनिकों की जीवन-लीला समाप्त कर दी, कितनी बहन-बेटियों की इज्जत धूल में मिला दी; आज तुम्हीं राष्ट्रीय

सरकार के देशभक्त प्रहरी हो, कानून और व्यवस्था के रक्षक हो, दरअसल सच्ची आज़ादी तो तुम्हें मिली है—क्या खूब !'

अफ़सर के मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसने पीछे मुड़कर पास खड़े हुए एक दूसरे अफ़सर को संबोधित कर कहा—'पता नहीं, यह लड़की क्या ऊल-जलूल बक रही है। जरा तुम भी समझाओ इसे ! आगे हम नहीं जानें देंगे इन्हें।'

दूसरे अफ़सर ने आगे बढ़कर कहा—'देखिए, आप पढ़ी-लिखी हैं। जरा हमारी जिम्मेदारी और अपने कर्त्तव्य को तो समझिए। अब तो आपका अपना राज है, अपनी सरकार है। अब इन जलूस-प्रदर्शनों की क्या जरूरत ?'

'अपना राज है, तभी तो हम जलूस-प्रदर्शनों की आज़ादी चाहते हैं। अपने मन्त्रियों तक अपनी आवाज़ पहुँचाने-भर की सुविधा चाहते हैं। हम सिर्फ प्रधान मन्त्री से मिलने आए हैं। अपने दुःख-दर्द को फरियाद उन तक पहुँचाने आए हैं। बस।'

'अच्छा ठहरिये, मैं उनसे पूछ कर आता हूँ।'कहकर अफ़सर केन्द्रीय सचिवालय की ओर चल दिया।

३

एक सहमी सी शांति वातावरण को निस्तब्ध बना रही थी। सबके चेहरे फीके थे। उन पर उत्सुक पीड़ा जैसे अपना आँचल फैलाकर सिसक रही थी। सवारियों का आना-जाना बन्द हो गया था और चारों ओर से भीड़ बढ़ती जा रही थी। तरह-तरह की अफवाहें फैल रही थीं। कोई कहता-केन्द्रीय सचिवालय में मन्त्रियों की गुप्त मंत्रणा चल रही है, शीघ्र ही कोई घोषणा होगी। कोई कहता-प्रधान मन्त्री स्वयं आ रहे हैं। बस, वहाँ से तो चल पड़े हैं।

भूखे-प्यासे-पेट जलूस वाले थककर सड़क पर ही बैठ गए थे।

प्रतीक्षा की घड़ियाँ वैसे ही लम्बी होती हैं, फिर भूख, प्यास और गर्मी ने उन्हें और भी लम्बा बना दिया था। आज सूरज भी मानों अपनी सारी गर्मी वहीं लाकर डाल रहा था। वातावरण क्षुब्ध हो रहा था।

इसी समय एक ओर कुछ हलचल-सी हुई और एक साथ कई आँखें उधर उठीं। पुलिस-अफसर अब वापस लौट रहा था।

कणिका के पास आकर उसने उदास चेहरे से टूटते हुए स्वर में कहा—'मुझे खेद है, प्रधान मन्त्री किसी भी शर्त पर आपसे मिलने को तैयार नहीं हैं। उन्हें सूचना मिली है कि भीड़ का रुख बड़ा आतंकपूर्ण है। वातावरण उत्तेजनामय है। आप कृपया जलूस वालों को समझाकर वापस ले जायँ।'

कणिका की आँखों में एक अजीब-सी चमक आ गयी। उद्धत स्वर में उसने कहा—'आप समझते हैं कि यह भी कोई बाजीगर का खेल है कि मैं कहूंगी और जनता दुत्कारे हुए पालतू जानवर की तरह चली जायगी! वह इतनी नासमझ नहीं।'

फिर जलूस को सम्बोधित कर वह बोली—'साथियो, हमारे प्रधान मंत्री हमसे मिलना नहीं चाहते! अधिकार और आज़ादी तो दूर की बात है, वे हमें दर्शन तक नहीं देना चाहते! उन्हें तो आपके वोट चाहिएँ, वोट। आप लोगों की शक्ल से उन्हें भी वैसी ही नफरत है जैसी अंग्रेजों को थी। जनता और अधिकार—वे कैसे मानें?'

लोग सन्न रह गये!

'आखिर मिल लेने में हर्ज ही क्या था?'—एक ने कहा।

दूसरा बोला—'अगर वे स्वयं आकर सारी स्थिति समझते; तो लोग अवश्य शांत हो जाते।'

तीसरे ने कहा—'सब जुआचोर हैं, भैया। इतना कष्ट ये क्यों करें। कल तक यही ट्राम और बस में धक्के खाते फिरते थे। आज पैसों,

मोटरों, कोठियों और सत्ता का नशा भूत बनकर इनके सिर पर सवार है, कहते हैं, नहीं मिलेंगे। क्यों नहीं, एक तो करेला, फिर नीम चढ़ा !

पुलिस अफसर ने कहा—'तो आप लोग शाँति पूर्वक लौट जाइए। देखिए, कब से ट्रैफिक रुका हुआ है । इससे तो जनता का ही हर्ज हो रहा है।'

'जी हाँ, क्यों नहीं !'—कणिका ने जरा व्यंग्यपूर्वक हँसकर कहा—'एक दिन के ट्रैफिक के रुकने से जनता का इतना बड़ा हर्ज नहीं होगा जनाब, जितना नागरिक स्वतंत्रता के ट्रैफिक के हमेशा के लिए रुक जाने से ! आप जो चाहें, कीजिए, हम लोग ऐसे नहीं लौटने वाले।'

वाक्य पूरा होते-न होते कणिका फिर अपने स्थान पर बैठ गयी।

पुलिस ज़रा पसोपेश में पड़ी । कुछ देर अफसरों न आपस में मंत्रणा की। आख़िर एक अफ़सर ने कहा—'क्यों मि० सिन्हा, एच० एम० (आनरेबल मिनिस्टर) ने तो साफ़ कह दिया था कि समझाना-बुझाना बेकार है। ये लोग अश्रु-गैस, लाठी और गोलियों की भाषा को ही समझते हैं।'

सिन्हा ने गले का थूक निगलते हुए कहा—'हाँ, कहा तो था, पर'''मतलब यह है कि'''हाँ, उन्होंने कहा ही था।'

कुछ क्षण फिर सब सोच में पड़े रहे। फिर भीड़ को तितर-बितर होने की चेतावनी देकर अश्रु-गैस के बम फेंके गए। आस-पास की भीड़ तो इधर-उधर हो गई, पर जलूसवाले कुछ तो ज्यों-त्यों बैठे रहे और कुछ सड़क ही पर लेट गये। गैस का धुँआ जब फीका पड़ा, तो भीड़ फिर जमा हो गई।

'हम मच्छर नहीं हैं, जो इस तरह उड़ जायँ !'—एक ने भीड़ में से चिल्लाकर कहा । जलूस वालों के चेहरों पर एक मुस्कराहट खेल गई। पुलिसवाले कुछ झेंप-से गए।

फिर वही निस्तब्धता। पुलिस-अफ़सरों के दिमाग़ों और सिपाहियों के हाथों में गरमी आई और देखते ही देखते बैठे हुए जलूस और चारों ओर खड़ी भीड़ पर लाठियाँ बरसने लगीं। कुछ लाठियाँ खा-खाकर भाग खड़े हुए, कुछ घायल होकर धराशायी हुए और कुछ पकड़ लिए गए।

कणिका के एक लाठी ललाट के दाहिने छोर पर लगी। उसका सिर फट गया और खून बहकर बालों तथा कपड़ों को भिगोने लगा। उसके हाथ का प्लेकार्ड छूटकर दूर जा गिरा और वह घायलों के सिर को सड़क का सहारा देकर लेट गई।

कुछ क्षण बाद पुलिस पकड़े हुओं को मोटर में डालकर थाने और घायलों को एम्बूलेंस में डालकर अस्पताल ले जाने लगी।

❀ ❀ ❀

चौराहे पर जहाँ खून गिरा था, एक कुत्ता आकर उसे सूँघने लगा। फिर उसे थोड़ा-सा चाट कर वह दूसरी ओर चल दिया। उसे आज पता लगा—'यह तो अपना ही राज है!'

९

रेज़िडेन्सी की सड़क

महल के बाहर काफ़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। लोग ज़ोर-ज़ोर से नारे लगा रहे थे—'महाराज की जय! महाराज की जय!!' और उनकी प्यासी आँखें महल के बरामदे पर टिकी हुई थीं कि जाने कब महाराज के दर्शन होते हैं। पर उनकी प्रतीक्षा का मानो अन्त ही नहीं आ रहा था। नारे लगाते-लगाते रुक कर वे गर्दनें उचका-उचका कर महल के बरामदे में अपलक दृष्टि से देखने लगते थे और कई मिनट बाद भी जब कोई वहाँ दिखाई नहीं देता था, तो फिर नारे लगाते थे मानो वे थकने या निराश न होने का दृढ़ संकल्प करके ही आए थे।

थोड़ी देर बाद बरामदे में खुलनेवाले महल की बैठक के बड़े दरवाज़े पर टँगा पर्दा हिला और दीवान बाहर निकलकर आया। भीड़ स्तब्ध हो गई। कुछ लोगों ने गर्दनें उचकाकर देखा कि शायद उसके पीछे महाराज भी हों, पर वे नहीं आए थे। दीवान ने एक सर-सरी निगाह बाहर जमा हुई भीड़पर डाली और फिर भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा—"सरकार इस वक्त गुसल में हैं। उन्होंने हुक्म फरमाया है कि लगान माफ़ नहीं हो सकता। वह तो हर हालत में तुम लोगों को देना ही पड़ेगा।"

भीड़ में से एक ने कहा—"पर दीवान साहब जब फ़सल ही नहीं हुई, तो हम ग़रीब लगान देंगे कहाँ से?"

दूसरा बोला—"हम तुम्हारी तरह मोटी तनख़्वाह और घूंस तो पाते नहीं कि जमा किए हुए धन में से ही कुछ दे दें।"

दीवान एकबारगी कुछ हतप्रभ हुआ और क्षुब्ध भी; फिर कुछ मुद्रा में बोला—"चुप रहो बदमाश कहीं के। यहाँ शोर मचाने की ज़रूरत नहीं। महाराज का आख़री फ़ैसला यही है कि लगान किसी भी हालत में माफ़ नहीं किया जा सकता।" और भीड़ में से कोई कुछ कहे या पूछे; इससे पहले ही दीवान तेज़ी से लौटकर फिर पर्दे के पीछे ग़ायब हो गया।

भीड़पर मानो घड़ों पानी पड़ गया। चारों ओर निराशा और पस्तहिम्मती की लहरसी रेंग गई। सब मुँह लटका कर लौट पड़े अपने-अपने घरों की ओर। लौटते हुए लोगों ने देखा कि रास्ते के किनारे एक पेड़ की फाँक के बीच में बैठा मेघा सबकी ओर देखकर व्यंगभरी हँसी हँस रहा है। जिन्होंने उधर देखा, उन्हें उसकी यह गुस्ताख़ी ज़रा खटकी, मानो अब वह जलेपर और नमक छिड़क रहा हो। सहसा उसकी हँसी एक कठोर गांभीर्य में बदल गई और उसने होंठों को बल देकर कहा—"अब क्यों नहीं बोलते महाराज की जय? और बोलो, महाराज की जय! मेरी बात तो तुम कोई सुनते और मानते नहीं। जाओ, फिर दीवान जी के पास जाओ। वे लगान माफ़ कर देंगे और लड्डू पूड़ी भी देंगे!"

लोग भींगी बिल्ली की तरह चुप रहे। अपनी जगह से कूदकर मेघा उनके साथ-साथ चलने लगा—"अरे तुम सब कोई कोल्हू के बैल या मिट्टी के लौंदे तो हो नहीं। क्या रीढ़ सीधी करके खड़े होने में भी तुम्हें डर लगता है? अरे, आख़िर तो हम भी इन्सान हैं, कोई ढोर-डंगर तो हैं नहीं।" उसने ज़रा उत्तेजित स्वर में कहा।

"सो तो हम भी समझते हैं, भाई।" भीखा ने अश्वस्त स्वर में कहा।

"पर कोई रास्ता भी तो बता कि हम क्या करें ? समुद्र में रहकर मगरमच्छ से बैर तो नहीं चल सकता न।"

"हज़ार बार चल सकता है। समुद्र अकेले मगरमच्छ या उसके बाप का थोड़े ही है। आखिर उसकी तरह दूसरों को भी तो उसमें रहने का अधिकार है।"

माँगिया ने ज़रा मेघा की ओर बढ़कर कहा—तेरी बात तो बिल्कुल ठीक है मेघा भाई; पर अब यह बता कि हम लोग आख़िर करें तो क्या करें ?"

"करें यह कि सब एक होकर लगान देने से साफ़ इन्कार कर दें। फिर देखें किसकी माँ ने दूध पिलाया है, जो आकर हम से लगान लेले।" दृढ़ता के साथ मेघा बोला।

"बात तो मेघा ठीक कहता है" लाल्लूने सयानेपन से कहा।

सहसा लोग रुक गये और मेघाको चारों ओर से घेर लिया। और जो मेघा अबतक अवारा, झगड़ालू और ग़ैरज़िम्मेदार समझा जाता था, उसने किसी सुदक्ष नेताकी तरह उन्हें उनके अधिकारों की बातें बतानी शुरू कीं—"हम लोग आख़िर कबतक मूक पशु बनकर इस तरह शोषित, पीड़ित और अपमानित होते रहेंगे ? आख़िर हम भी आदमी हैं, हमारी भी कोई इज्ज़त है। हमें विशेष कुछ नहीं करना है। यदि हम संगठित होकर रहें, तो कोई हमारा बाल भी बाँका नहीं कर सकता।"

"हम सब राज़ी हैं, मेघा भाई। आजसे तुम जैसा कहोगे, वैसा ही करेंगे।"—कई कण्ठों से एक साथ निकला।

"अच्छी बात है"—मेघा मुस्कराया और फिर बगलमें दबाया हुआ अपना साफ़ा सिरपर लपेटते हुए बोला—"तो लौट चलो फिर महलकी ओर। देखें हमारी फ़रयाद कौन नहीं सुनता है !"

और बाँध के पानी की तरह लोगों का प्रवाह सहसा विपरीत दिशा में मुड़ गया। सबके दिल मानो धुक्-धुक् कर रहे थे। कुछ के क़दम तेज़ी और दृढ़ता के साथ उठ रहे थे और कुछ के थके और शिथिल-से; पर जा रहे थे सब महल की ओर ही।

२

महाराज खाने की मेज़ पर बैठ चुके थे। आस-पास कई वर्दीधारी बैरे हुक्म की प्रतीक्षा में खड़े थे। भीतर से आकर एक बैरे ने कहा—"गुस्ताख़ी माफ़ हो सरकार, इस वक्त हुक्म फरमायें तो व्हिस्की या ब्राण्डी ही हाज़िर करूँ।" 'अबे गधे के बच्चे, क्यों व्यर्थ मुझे गुस्सा दिलाता है ? जानता है, शूट कर दूँगा अभी, शूट ! तूने देखी नहीं मालूम होता है, मेरी नई दुनाली ?"—महाराज गरजे।

एक दूसरे बैरे ने काँपते हुए पाँवों से दस्तबस्ता आगे बढ़कर कहा—"खता माफ़ हो सरकार, इस वक्त शायद बर्गेन्डी अच्छी रहेगी।"

बहुरूपियेका-सा मुँह बना और हाथ मटकाकर महाराज ने कहा—"हमारे साथ इतने दिन विलायत की ख़ाक छानकर भी तू तो गधे-का-गधा ही रहा रे गफ़ूर। अरे, यह कोई बर्गेन्डी, व्हिस्की या ब्राण्डी का वक्त है ? जान पड़ता है, तुम सब मिलकर मेरी एटिकेट और टेबल-मैनर्स की सारी ट्रेनिंग पर पानी फेर देने पर ही तुले हुए हो। लंच के साथ बर्गेन्डी क्या ख़ूब ? अरे बेवकूफ़ो, मैं लेमन एण्ड जिन लूँगा, और कुछ नहीं।"

"जी हाँ सरकार, आप बजा फरमाते हैं। बड़ी जायकेदार और मुफ़ीद चीज़ है और फिर वक्त की भी।" एक बैरे ने खुशामद में कहा।

"अबे सरकार के बच्चे, कुछ देगा भी, या खड़ा-खड़ा कोरी बातें

ही बनाए जायगा।"

"हुजूर......" गिड़गिड़ाकर हैड बैरे ने कहा—"मोटर बम्बई गई हुई है। जिन लेकर अब किसी भी मिनट में पहुँचने ही वाली है।"

"ओह, पहुँचने ही वाली है ! पहले क्या तुम्हारी अक्ल चरने गई थी, जो ख़्याल ही नहीं रखा।"

"बहुत बड़ी ग़लती हुई सरकार। इस बार माफ़ी बख़्शी जाय। आइन्दा ऐसी ग़लती नहीं होगी।" हैड बैरे ने झुककर सलाम करते हुए कहा।

इसी समय दीवान ने हाथ में कुछ कागज़ लिये हुए प्रवेश किया। झुक कर सलाम करते हुए उसने कहा—"इस वक्त तकलीफ़ देने के लिये माफ़ी चाहता हूं सरकार। रिपोर्ट तैयार है साथ ही चिट्ठी पर आपके दस्तख़त होने ज़रूरी हैं।"

"तुम लोग तो जान पड़ता है, मुझे चैन से खाने भी न दोगे। क्या तुम्हारे दस्तख़तों से काम नहीं चलेगा ?"—महाराज ने विरसता से दीवान की ओर देख कर पूछा।

"जी नहीं, सरकार यह मसला ज़रा अहम है।"

"अच्छा, लाओ।"

दीवान ने लपक कर मेज़ के एक किनारे कागज़ रखे और उसमें से चिट्ठी ले महाराज के आगे कर जेब से अपना फाउन्टेनपेन निकाल और खोल कर उनके हाथ में थमा दिया। महाराज ने खड़-खड़ करके अपने टेढ़े-मेढ़े हस्ताक्षर रगड़ दिये और क़लम लौटाते हुए बोले "जैसा मैंने बताया था वैसा ही लिखा है न ?"

"जी सरकार, हू-ब-हू आपके अलफ़ाज़ही में।" क़लम लेकर फिर सलाम करते हुए दीवान ने कहा—"ज़्यादा ज़ोर इसी बात पर दिया गया है कि हथियारों से लैस भीड़ ने महल को चारों तरफ़ से घेर

लिया, उस पर ईंट पत्थर बरसाये, महाराज को गालियाँ दीं और महल में आग लगाने की कोशिश की वग़ैरा वग़ैरा।"

कुछ मुस्कराकर महाराज ने कहा—"आदमी हो निरे बुद्धू और बेवकूफ, मगर कभी-कभी बात समझ भी लेते हो।"

दीवान का चेहरा पहले तो कुछ फ़ीका पड़ा, पर फिर एक बनावटी मुस्कराहट से झुक कर उसने फिर सलाम किया।

"अच्छा, गोली चलाने की बात तो नहीं लिखी है न?"

"जी नहीं, सरकार।"

और जो लोग मरे हैं, उनकी बाबत क्या लिखा है?"

"वही, जो हुजूर ने फ़रमाया था। सोलह मरे थे, सो एक बताया है, बाकी चार-पाँच घायल।"

"सोलह मरे थे सो एक बताया है बाकी चार-पाँच घायल।" मुँह चिचकाते हुए महाराज ने कुछ आक्रोश में कहा—"अरे बछिया के ताऊ, जब गोली चलने की बात ही नहीं लिखी, तो फिर एक के मरने और चार-पाँच के घायल होने की बात कैसे कही जा सकती है?"

जैसे कुछ याद आ गया हो, ऐसे मुस्कराकर दीवान बोला—"अरे, हाँ सरकार, आपने तो ठीक पकड़ लिया, वर्ना गज़ब हो जाता। तो वह बात काट देता हूँ।"

"काटने से काम नहीं चलेगा। उसे निकाल कर रिपोर्ट दुबारा टाइप करवाओ अभी, इसी वक्त।" महाराज बोले।

"जी सरकार," कह कर दीवानने फिर झुक कर सलाम किया और जाने को हुआ। महाराज ने कुछ सधी हुई आवाज में कहा—"बख्तावर-सिंह जायगा न इसे लेकर? अच्छा, सबको अच्छी तरह से समझा देना कि अगर कभी कोई पूछ-ताछ हो, तो गोली की बात कभी मंजूर न करें।"

"बहुत अच्छा सरकार"—कह कर दीवान ने फिर झुक कर सलाम किया और विदा ली।

महाराज के चेहरे पर सन्तोष की एक मुस्कराहट फैल गई। दोनों हाथों से मूँछों पर ताव देते हुए अपने-आप से ही बोले—अब देखता हूँ कैसे करते हैं ये साले सत्याग्रह और कैसे नहीं देते हैं लगान ?" क्या तो पिद्दी और क्या पिद्दी का शोरबा !

पास खड़े एक बैरे ने खुशामद में झुक कर सलाम किया और बोला —"हुजूर बजा फरमाते हैं।"

एक ज़ोर का घूँसा खाने की मेज़ पर मार कर महाराज गरज उठे —"क्या हुई जिन ? अभी तक नहीं आई ?"

"देखता हूँ, सरकार"—कह कर हैड बैरा तेज़ी से क़दम बढ़ाता हुआ कमरे से बाहर हो गया।

३

भगवान भक्तों की सहायता करने में भले ही विलम्ब करें, पर वे ब्रिटिश अधिकारी, जिनके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता, भला अपने दासों की सहायता-संरक्षण में कैसे विलम्ब कर सकते थे ? एक विशेष दूत के माफ़र्त महाराज को दिल्ली से पैग़ाम भिजवाया गया कि वे तनिक भी चिन्ता न करें, ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही आवश्यक कार्यवाही कर रही है। उसने यह भी कहा कि सात साल पहले वहाँ की जो रेज़िडेन्सी हटा ली गई थी, नए वर्ष की पहली तारीख से फिर खोल दी जायगी। जनता के लिए खुश ख़बरी यह थी कि किसान-सत्याग्रह के परिणाम स्वरूप रेज़िडेन्सी और उसकी नई सड़क के निर्माण का सारा खर्च जनता से जुर्माने के रूप में वसूल किया जायगा।

भय और आतंक के साथ जनता में एक कँप-कँपी-सी फैल गई। पर किसकी मजाल थी, जो इसके खिलाफ़ ज़बान खोलता ?

राजधानी से कोई चार मील दूर एक टेकरी पर जगह पसन्द की गई और देखते-ही-देखते वहाँ रेज़िडेन्सी की नई इमारत बननी शुरू हो गई। इसमें काम करने के लिये कोई २०० व्यक्ति बेगार में पकड़ कर लाए गए और बेतों तथा संगीनों के सहारे बेरहमी से उनसे काम लिया जाने लगा। जिन्होंने उस इमारत की नींव खोदी, वे समझ रहे थे मानो अपनी ही क़ब्र खोद रहे हैं। जिन हाथों ने उसकी दीवारें चिनी, उनका दिल मानो पत्थर हो चुका था। न जाने कितनों की आहें और आँसू बुझ कर उस नापाक इमारत की नींव के साथ सो गए थे। और जब वह बन कर तैयार हुई, तो ऐसा लगता था मानो जनता के अधिकारों और नागरिक स्वतन्त्रता की क़ब्र पर खड़ा अत्याचार और अहंकार का यह स्मारक शोषित-पीड़ित जनता का उपहास-सा कर रहा है।

मेघा के दो गोलियाँ लगीं थीं। एक दाहिने कन्धे पर और दूसरी बाँई जाँघ पर। उसके घाव अभी भरे न थे और टाँके भी खोले नहीं गए थे। एक दिन जेल में हुक्म आया कि सब राज-बन्दी क़िले और कचहरी से रेज़िडन्सी तक बनने वाली सड़क कूटने जायँगे। यह सुन कर मेघा की छाती पर जैसे साँप-सा लोट गया। इस अपमान और अन्यायका कभी अन्त भी होगा?—उसने अपनी कल्पना पर ज़ोर देकर सोचना चाहा। उसके अनेक साथी अब उससे आँख भी नहीं मिलाते थे और समझते थे कि ये जो नई-नई आफ़तें आ रही हैं, सब मेघा की धृष्टता और हठ-धर्मी के कारण ही। वे बेचारे भोले-भाले अर्द्ध पशु समझते थे कि मेघा ने अपनी नासमझी से उनके शाँत जीवन में अशान्ति और बग़ावत की आग लगा कर अच्छा नहीं किया, और आज उसी के कारण उनको जेल काटनी पड़ रही है। एक बार तो सिखाने बहकाने से अनेक राजबन्दी महाराज से अपनी ग़लती के लिए माफ़ी तक माँगने को भी तत्पर हो गए थे, पर जब मेघा ने क्रोध से काँपते

हुए कठोर स्वर में कहा कि 'मेरे जीते जी कोई माफ़ी नहीं माँग सकता, मेरी लाश पर पाँव रख कर ही तुम लोग माफ़ी माँगने जा सकते हो' तो सबका हौसला पस्त हो गया। अब जब सड़क कूटने का यह नया हुक्म आया, तो सबने इन वितृष्णा दृष्टि से मेघा की ओर देखा। मेघा खून का सा घूँट पीकर रह गया। अन्याय और अत्याचारियों से उसने डटकर लोहा लिया था, पर अपने ही साथियों की ऐसी दृष्टि जैसे उसे गोली से भी अधिक मार करती लगती थी। एक बेधड़क दृष्टि से अपने साथियों को देखते हुए कठोर स्वर में उसने कहा—"घबराने या डरने की ज़रूरत नहीं। हम में से कोई भी सड़क कूटने नहीं जायगा।"

जेल में एक सन्नाटा-सा छा गया। अधिकारियों को जब इस निर्णय का पता लगा, तो उन्होंने मेघा को बुरी तरह पीटा और सबसे अलग कर उसे एक तंग कोठरी में बन्द कर दिया। धीरे-धीरे डंडे के बल पर एक-एक कर सब राजबन्दियों को सड़क कूटने ले जाया गया। एक दिन मेघा का भी नम्बर आया और अपने घावों के बावजूद उसने सड़क कूटना स्वीकार कर लिया। उसके साथियों की समझ में ही नहीं आ रहा था कि आख़िर वह अब सड़क कूटने को राज़ी कैसे हो गया ? पर उससे किसी को कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

शाम को जब सब क़ैदी सड़क कूटकर लौटे और उन्हें फिर जेल में बन्द करने से पहले हाज़िरी ली गई, तो पता चला कि मेघा ग़ायब है। जल्दी से सब क़ैदियों को डंडा-बेड़ी डालकर बन्द करा दिया गया और चारों ओर मेघा की तलाश होने लगी। पर आस-पास के गाँवों, पहाड़ों जंगलों आदि सबको छान डालने पर भी मेघा कहीं नहीं मिला।

दूसरे दिन हुक्म आया कि कोई क़ैदी सड़क कूटने नहीं जायगा; अब यह काम बाहर के बेगारियों से ही लिया जायगा।

तोप चलते ही मेघा ऐसा चौंका मानो तोप के गोले ने टाट के टुकड़े पर पड़ी देह को नीचे से आकर ऊपर हवा में उछाल दिया हो। धन्नी ने शायद यह देखा नहीं, इसीलिए सहज भाव से बोली—"रजीडंट साहब अब किले में पहुंचे हैं, जान पड़ता है।"

मेघा कुछ बोला नहीं चुपचाप लेटा रहा। दाँतों के बीच निचला होंठ उसने इतने ज़ोर से दबा लिया, मानो उसे काट ही खायगा। जन अपमान और अन्यायका अध्याय मानो आज सम्पूर्ण हो रहा हो। एक के बाद एक वह जैसे खून के घूँट पी-पी कर कराह रहा था और फनकटे साँपकी तरह तड़फड़ा रहा था। उसका धैर्य, संयम और विवशता मानो आज सारे बंधन तोड़कर फूट निकलने को उतावले हो रहे थे। उसकी साँस-ज़ोर से चलने लगा और बेसब्री को रोकने में असमर्थ होने के कारण वह उठकर बैठ गया और इधर-उधर देख कर बोला—"धन्नी, तू रोटी पो; तब तक मैं ज़रा बाहर घूम आता हूँ। घर पर पड़े-पड़े मन घबरा उठा है।"

"वह तो मैं समझ सकती हूं, पर इस कमज़ोरी की हालत में क्या बाहर जाना ठीक होगा?"—धन्नी ने प्रश्न किया।

"दूर नहीं जाऊँगा; पास ही हो आता हूं।"

"नहीं, तुम्हारा अकेले जाना ठीक नहीं। चलो, मैं भी साथ चलती हूं।"

"तू भी क्या पागलपन की बात करती है? अरी, कह जो रहा हूं कि दूर नहीं जाना है। पास से अभी लौट आता हूं। तू तब तक रोटी बना ले।

"अच्छा, जैसी तुम्हारी मर्ज़ी—"कह कर धन्नी रोटी बनाने लगी और मेघा लाठी लेकर उसके सहारे धीरे-धीरे बाहर निकल गया।

कुछ ही क़दम चलने पर मेघा ने देखा—सामने ही साफ़-सुथरी

पीचकी रेज़िडेन्सी की सड़क ऐसी लग रही थी मानो कोई मुर्दा नागिन लम्बी पसरी चमचमा रही हो और टेकरी पर बनी रेज़िडेंसी की इमारत जैसे उसका फन हो। सड़क के दोनों ओर रेज़िडेंट साहब के स्वागत में बाँधी गई पतली कागज़ की लाल-पीली-हरी झंडियाँ हवा में फरफरा रही थीं। उन्हें देख कर मेघा को ऐसा लगा मानों साम्राज्यवादी डोरके विना सामंती नरक के ये अवशेष एक दिन इन झंडियों की तरह ही हवा में फरफरा कर उड़ जायँगे। सड़क के दोनों किनारों पर जगह जगह नई वर्दी पहने पुलिस गश्त लगा रही थी। अभी झाड़ियाँ पार कर मेघा सड़क के किनारे पहुँचा ही था कि एक पुलिस वाले ने सड़क पर कहा—"कौन है रे? होश भी है या नहीं कि आज किसी को इस सड़क पर चलने का हुक्म नहीं है।"

"मैं बीमार आदमी हूँ, जमादारजी! दिन-भर पड़ा-पड़ा तोपों की गरज और बैंड-बाजे का स्वर सुन-सुन कर ही हिरसता रहा, जैसे रेज़िडेंट साहब की सवारी देखना मेरे भाग्य में बदा ही न था। अब सोचा, चलकर ज़रा रेज़िडेंसी की यह नई सड़क ही देख आऊँ। मैंने भी इसे कूटा है, जमादार जी; इसलिये इससे थोड़ी-सी उन्सियत भी है।" यह कहते-कहते मेघा सड़क पर कई क़दम आगे बढ़ गया।

यह देखते ही दूर खड़े एक पुलिस-अफ़सर ने सीटी बजाई और कई पुलिसकांस्टेबल मेघा की ओर लपके। एक चिल्लाया—"अबे, कहाँ बढ़ा चला जा रहा है? कह जो दिया कि इस सड़क पर किसी को भी चलने का हुक्म नहीं है अब अगर एक भी क़दम और आगे बढ़ा तो टाँग तोड़ देंगे।"

मेघा कुछ बोला नहीं और अपनी लाठी के सहारे धीरे-धीरे आगे बढ़ता ही गया, मानो कोई अज्ञात शक्ति उसे बरबस आगे ठेल रही हो। फिर एक पुलिस-अफ़सर दौड़ते हुए चिल्लाया—"रोको इस पागल

बदमाश को, रोको।" और इसी समय पीछे से तेज़ी से आगे बढ़कर एक कांस्टेबल ने दोनों हाथों के पूरे ज़ोर के साथ लोहे का पोला लगी लाठी का एक वार मेघा की टाँगों पर किया। लाठी का प्रहार मेघा के दाहिने पाँव के टखने पर जाकर पड़ा और एक चीख़ के साथ वह सड़क पर धड़ाम से गिर पड़ा। टखने के पासकी चमड़ी कट गई और वहाँ से खून निकल आया तथा ऊपर की हड्डी और एड़ीका जोड़ एक-दूसरे से अलग हो गये।

दो आदमियों ने हाथ पकड़ कर मेघा को खड़ा करना चाहा, पर उससे खड़ा नहीं हुआ गया। अनुमान किया गया कि टखने के पास शायद फ्रैक्चर हो गया है। यह देख पुलिस के दोनों आदमी कुछ सकपकाए। इतने में ही दूर से एक पुलिस अफ़सर दौड़ता हुआ आया और हाँफ़ते हुए बोला—"अरे, यह तो वही बदमाश मेघा है, जो जेल से फ़रार हो गया था! यह यहाँ कैसे आया? यह तो बड़ा खतरनाक आदमी है।"

"इसे जल्दी यहाँ से दूर करो। रेज़िडेंट साहब की सवारी अभी वापस आती ही होगी।"—अफ़सर ने घबराहट के साथ कहा।

"फ्रैक्चर हो गया जान पड़ता है, हुजूर"—एक कांस्टेबल ने अफ़-सर से कहा।

"फ्रैक्चर! कोई हर्ज़ नहीं। इसे अभी जेल के अस्पताल में भिजवा दो।"

मेघा की आँखों के आगे अँधेरा छा गया था और पाँव में बहुत तेज़ दर्द हो रहा था। दो कांस्टेबल उठा कर उसे जेल-अस्पताल की ओर ले चले। फिर एक तोप दगी और बैंड की आवाज़ सुनाई दी। शायद रेज़िडेंट साहब की सवारी किले से लौट रही थी।

४

असमय बुढ़ा गए मेघा के जीवन में जैसे उस दिन अकस्मात असमय में बहार का फिरएक झोंका आया। अब वह मेघा नहीं, मेघराज चौधरी कहलाने लगा था। देश आज़ाद हो चुका था और महाराज ने उत्तरदायी शासन की माँग स्वीकार कर प्रजा-परिषद के नेता की हैसियत से मेघराज को मंत्रि-मंडल बनाने को कहा।

मेघराज ने अपने साथियों से हाथ जोड़ कर अनुनय-विनय की कि वह पढ़ा-लिखा नहीं है, अतः उसे ऐसा गुरुतर दायित्वका पद न सौंप कर किसी सुयोग्य व्यक्ति को सौंपा जाय। पर साथी माने ही नहीं। कुछ ने तो बड़े गर्व से कहा—"जब लाठी-गोली चलती थी, तो हम निर्मम प्रहारों के शिकार होते थे और ये पढ़े-लिखे बाबू और अफ़सर लोग भीगी बिल्ली की तरह जी-हुज़ूरी करते तथा हमें बेवकूफ़ बताते थे। आज इन्हें सत्ता सौंपकर ग़रीबों का क्या भला होगा? ये ग़द्दार तो आस्तीन के साँप हैं, साँप!"

साथियों के विशेष आग्रह-अनुरोध पर मेघराज ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर अपना मंत्रि-मंडल बनाया, जिसे महाराज ने स्वीकार कर लिया। आज अब मंत्रियों को वफादारी की शपथ लेनी थी। और मंत्री तो एक बड़ी शिकार की बस में बैठकर टेकरी पर बनी रेजिडेन्सी कोठी पर जहाँ अब महाराज रहते थे तथा जहाँ शपथ लेनी थी—पहुँचा दिए गए थे, पर मेघराज के लिए महाराज ने अपनी मोटर भेजी थी। उसमें सवार होकर जब मेघराज टेकरी वाली कोठी की ओर चला, तो उसने देखा कि हर्ष-विह्वल जनता आज महाराज की बजाय उसकी जय बोल रही थी! मेघराज की आँखें भर आई थीं। दोनों हाथ जोड़कर वह सबका अभिवादन स्वीकार कर रहा था। एक जगह जब मोटर रोक कर लोगों ने उसे फूल मालाओं से लाद दिया, तो मेघराज ने हर्ष

गद्-गद् कंठ से कहा—"यह क्या कर रहे हो, भाइयो अरे, यह तो मेरी नहीं, तुम्हारी जीत है। सो अभिवादन तो करना चाहिये।" सब खिलखिला कर हँस पड़े और फिर अनेक कंठों से निकला—'लोकनायक मेघराज की जय!'

नगर से बाहर निकल कर मोटर अभी टेकरी की तरफ़ मुड़ी ही थी कि मेघराज ने उसे ठहराने का हुक्म दिया। मोटर रुकी। वह लाठी का सहारा लेकर नीचे उतर आया। सजल आँखों से उसने सड़क के दोनों ओर देखा और मन-ही-मन कहा:—"यह है मेरी वह ज़मीन जिसे रेज़िडेन्सी की सड़क निकालने के लिए मुझ से बिना मुआवजा दिए छीन ली गई थी। न जाने कितनी पुश्तों से यह धरती माता हमें पालती-पोसती आई थी। पर ग़रीब की बात कौन सुनता?"

फिर मेघराज ने गर्दन ऊँची कर दाहिनी ओर देखा। वह पहचान नहीं पाया कि वहाँ कहाँ उसकी झोंपड़ी थी, जिसे अधिकारियों ने जलवाकर राख कर डाला था। मानो धन्नी के साथ ही उसका अस्तित्व भी सदा के लिए धूल-राख की चादर ओढ़कर सो गया था। उन सारी घटनाओं की केवल एक दुखद स्मृति भर आज शेष थी! वह थी टख़ने के पास हुआ फ्रैक्चर, जिसने सदा के लिए मेघराज को लँगड़ा बना दिया था। आज उसे अचानक उस स्थान पर ज़ोर का दर्द हो उठा था पर उसकी परवाह न कर लाठी के सहारे मेघराज सड़क पर चलने लगा।

मोटर में बैठे अफ़सर ने पहले तो समझा कि प्रधानमंत्री कुछ मुआइना कर रहे हैं, पर जब वे कई क़दम आगे बढ़ गए, तो उसने दौड़ कर उनके पास जाकर कहा—"हुज़ूर, मोटर में चलें पैदल चलने में आपको नाहक तकलीफ़ होगी। पाँव का दर्द भी बढ़ सकता है।"

"होगी नहीं, काफ़ी तकलीफ़ हो रही है, इन्स्पेक्टर साहब"—

मेघराज ने भरे हुए कंठ से कहा—"पर उससे कहीं ज़्यादा तकलीफ़ होगी इस सड़क पर नहीं चलने से। यह सड़क मेरे आशा—अरमानों का क़ब्रिस्तान है, जिसके दामन पर मेरे ख़ून का दाग़ मानो अभी भी ताज़ा है। आप मोटर ले जायँ, मैं पैदल ही चल कर आता हूँ, ताकि इतिहास में यह सड़क उस बदनाम सड़क के रूप में तो याद न की जाय, जिस पर चलने का उसे बनाने वालों को भी हक़ हासिल न था! उफ़! इन्सान किस हद तक गिर सकता है!

अफ़सर निरुत्तर हो गया। लाठी के सहारे मेघराज लँगड़ाते-लँगड़ाते पैदल टेकरी की कोठी की ओर चलने लगा और मोटर धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे।

१०

एक लावारिस ख़त

जब चपरासी ने आकर सोने के कमरे की खिड़की का पर्दा हटाया, मैं जग चुका था। पर्दा हटते ही खिड़की से बाहर की बर्फ़ से ढँकी पहाड़ियों के दृश्य ने मानो आँखों को बाँध-सा लिया। दूर तक चली गई हिम-मंडित पर्वतमाला पर पड़ने वाली बाल-सूर्य की रक्ताभ किरणें चारों ओर मानों एक रहस्यमय हास्य बिखेर रही थीं। भाषा-हीन मूक प्रकृति का यह अजस्र सौन्दर्य मानो आज एक विचित्र चित्रमय भाषा में मुखर हो रहा था! और मुझे ऐसा लगा मानो इस असीम रजत-धवल हास्य के ख़ज़ाने को लूटने के लिए इन्सान की सिर्फ़ दो आँखें ही काफ़ी नहीं हैं। काश, उसका हर रोम आँख बनकर इस अमल-धवल सौन्दर्य सुधा का पान कर सकता!

इसी समय चपरासी ने पलंग के पास रखी छोटी मेज़ पर चाय की ट्रे लाकर रखते हुए कहा—"हुज़ूर, चाय।"

"अच्छा"—कहकर मैं अधलेटी अवस्था से उठ बैठा। ट्रे की ओर देखकर मुझे अख़बार की कमी बेहद खटकी। शहर में रहते-रहते यह कुछ आदत-सी बन गई है कि बिना अख़बार के सुबह की चाय का पूरा मज़ा नहीं आता। और शायद बिना चाय के अख़बार पढ़ने का भी! जाते हुए चपरासी की ओर देखकर मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आज का कोई अख़बार मिलेगा क्या?"

"जी, अभी तो नहीं मिलेगा"—मुड़कर चपरासी ने आजिज़ी से कहा और फिर ज़रा निकट आते हुए बोला—"यहाँ अख़बार २॥ बजे की डाक से आता है। तब तक हुज़ूर इन किताबों का ही मुलाहिज़ा फरमायें।" यहकर उसने पास की दीवार में बनी एक बिना किवाड़वाली आलमारी की ओर इशारा किया, जिसके ऊपर के खाने के एक कोने में चन्द किताबें सजाकर रखी हुई थीं। मैंने एक ही निगाह में उन किताबों की जिल्दें देखकर भाँप लिया कि ये बाबा आदम के ज़माने का ट्रैश (रद्दी) हैं। ख़ैर, "अच्छा" कहकर मैंने चपरासी को विदा किया और चाय ढालने लगा।

साढ़े सात हज़ार फीट की ऊँचाई पर इस डाक बँगले में अपने आपको अकेला पा आज जीवन मानो आत्म-दर्शन, आत्म-निरीक्षण, की अपेक्षा करने लगा। अब तक का काम, सफलता-विफलता, दुःख-सुख के ये लम्बे वर्ष और आगे के स्वप्न—सब मिला कर मन पर मानो एक घटा-टोप-सा छा गया। चाय की हर चुस्की के साथ आँखें तो सुदूर हिम मंडित पर्वतमाला की चोटियों पर खेलने को दौड़ जातीं, पर मन? वह मानो नज़दीक या दूर का कोई सहारा या आधार न पाकर निरवलम्ब निराश-उदास-सा होने लगा। और इसी पागल मन को बहलाने के लिए तो मैं कोलाहलमय शहरी जीवन की उस ऊबा देनेवाली निर्जीव कृत्रिमता से भाग कर इस निर्जन पहाड़ी एकान्त में आया था; सो उसे लगाने का ही उपाय सोचने लगा। अख़बार मन को बाहरी बातों में लगाने उलझाने का एक ख़ासा अच्छा और सस्ता साधन है; पर बदक़िस्मती से यहाँ तो वह भी मुयस्सर नहीं। सामान का वज़न बढ़ जाने के डर से कोई किताबें भी अपने साथ नहीं लाया था। और ये जो सामने आलमारी में चन्द किताबें सजी थीं, उन्हें देखकर तो ऐसा लगता था, मानो क़ब्र में से निकल कर चन्द मुर्दे इसलिए यहाँ आ बैठे हैं कि कोई

उनसे पूछे कि 'आपका मिजाज़ कैसा है ?'

चाय पीने का आनन्द या तो चार दोस्तों के साथ आता है, या फिर अख़बार के साथ; सो यहाँ दोनों ही नदारद थे। लिहाज़ा चाय मुझ से नहीं ही पी गई। बिस्तर छोड़कर मैं उठ खड़ा हुआ और पुल-ओवर पहन कर कमरे में टहलने लगा। टहलते-टहलते आँखें फिर आलमारी में रखी पुस्तकों की ओर गईं—पर इस बार तिरस्कार के साथ नहीं, एक बुझी हुई उत्सुकता के साथ। उनके पास जाकर मैं रुका और बिना उन्हें छुए ही उनके ऊपर छपे नाम पढ़ने की चेष्टा करने लगा। पर सुनहरी अक्षरों में छपे उनमें से अधिकांश के नाम अधिकउपयोग के कारण इतने फीके पड़ गए थे कि कमरे के अपर्याप्त प्रकाश में उन्हें पढ़ लेना उड़ते हुए हवाई-जहाज़ पर छपे अक्षर पढ़ने से भी मुश्किल जान पड़ा। सो मैंने जैसे उन पर दया कर एक-एक पुस्तक उठा तथा उलट-पलट कर देखना आरम्भ किया। पहली लाल जिल्दवाली पुस्तक उठाई। उसका नाम था 'अमेरिका में डेमोक्रेसी' और छपी थी वह १८९४ में ! यह सोचकर कि अमरीकन डेमोक्रेसी को समझने के लिए ५७ वर्ष पहले छपी पुस्तक देखना आज बेकार है, मैंने उसे जहाँ का तहाँ रख दिया। फिर दूसरी पुस्तक उठाई। उसका नाम था 'शिकार की कहानियाँ।' यह छपी थी १९०६ में। यह सोच कर कि इसमें शिकारी महोदय ने यही शेख़ी बघारी होगी कि कैसे वे चीते से बाल-बाल बचे और कैसे शेर को एक ही निशाने में मार गिराया, मैंने उसे भी यथास्थान रख दिया। फिर तीसरी पुस्तक उठाई। वह भी कोई अख्यातनामा लेखक का जासूसी उपन्यास था। ऐसी पुस्तकों का शौक बचपन में ज़रूर था; पर अब तो उनके नाम से घृणा थी इतनी विरस विफलताओं के बाद चौथी और पाँचवीं पुस्तकें उठाकर देखने को मन नहीं हुआ और सरसरी निगाह से उनके नाम भी नहीं पढ़े जा सके। छठी और अन्तिम पुस्तक की जिल्द

के ऊपरी कोने पर जाकर आँखें रुकीं। फीकी लाल जिल्द पर चमकीले सुनहरी अक्षरों में लिखा था—'पेसीलिया और दार्शनिक'। आँखें इतना पढ़ कर हटना ही चाहती थीं कि मन ने उन्हें मानों वहीं रोक दिया और सोचने लगा : पेसीलिया, कौन पेसीलिया और कौन दार्शनिक ? अंग्रेज़ी साहित्य में इनका कहीं कोई उल्लेख भी तो नहीं पढ़ा-सुना। उठाकर लेखक-प्रकाशक के नाम देखे। वे भी कोई प्रसिद्ध अथवा जाने-सुने नहीं लगे। फिर अनुक्रमणिका देखी। उसमें भी पेसीलिया और दार्शनिक को लेकर लिखे गए विविध अध्यायों की सूची मात्र थी। उससे इतना तो जान पड़ा कि यह पेसीलिया नाम की किसी युवती की रोमांस-कथा है; पर साथ ही कुछ ऐसा आभास भी हुआ कि चीज़ बहुत सस्ती-सी है। यह सोचकर मैं पुस्तक को उसके स्थान पर रखने ही जा रहा था कि उसमें से मुड़े हुए कुछ काग़ज़ नीचे आ गिरे। मैंने समझा कि किताब के कुछ सफ़े शायद फट कर अलग हो गए हैं, अतः उन्हें उठाकर यथा-स्थान रख दूँ। पर ज्यों ही मैं उन्हें उठाने को झुका, तो देखा कि वे पुस्तक के छपे हुए सफ़े नहीं, हाथ से लिखे हुए कुछ काग़ज़ हैं, जिन्हें ख़त की तरह चौहरा मोड़ दिया गया है। पुस्तक मैंने जल्दी से उसके स्थान पर रख दी और उन काग़ज़ों को लेकर कुर्सी पर आ बैठा।

खोल कर देखा, तो सचमुच वह एक ख़त ही निकला। पर ख़त पूरा नहीं था और न उस ख़त के नीचे किसी के दस्तख़त ही थे। बाईं ओर को झुकी तिरछी लिखावट से वह किसी औरत के हाथ का लिखा जान पड़ता था। दूसरों के ख़त पढ़ना मैं एक सामाजिक पाप से किसी भी तरह कम नहीं समझता; पर आज न जाने क्यों, मैं इस ख़त को पढ़ने का लोभ संवरण नहीं कर सका। ख़त अंग्रेज़ी में था, जिसका सारांश इस प्रकार है :

"प्रियतम एफ़०,

"न मालूम कितनी बार तुम्हारे लिए इस सम्बोधन का प्रयोग किया है; पर आज ऐसा करते हुए मानो मन डर रहा है और हाथ भी काँप रहा है। पता नहीं तुम क्या सोचोगे? और सचमुच, क्या अब—जब कि मेरा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं और शायद तुम किसी दूसरी चहेती के प्राणधन भी बन चुके होगे—मेरा तुम्हें इस तरह सम्बोधित करना, इस तरह पत्र लिखना, उचित है? सचमुच मैं बड़ी परेशान हूँ। कुछ समझ में नहीं आता कि क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कौन मुझे रास्ता दिखाए?

"इस ख़त को लिखने की नौबत शायद नहीं आती, अगर तुम मुझे यहाँ मिल जाते और मैं अपनी सारी बातें तुम्हें बताकर अपना मन हल्का कर सकती। तुम (और कई बार मैं भी) हर साल बड़े दिनों की छुट्टियाँ इसी पहाड़ी-स्थान पर बिताते थे। इसी आशा से मैं यहाँ आई और बड़े दिनों की पूरी छुट्टियाँ तुम्हारी बाट जोहते-जोहते ही बिता दीं। प्रतीक्षा के इन दिनों में मैं एक क्षण को भी कहीं बाहर नहीं गई—यह सोचकर कि पता नहीं, तुम कब आ पहुँचो! पर भावुकता के साथ आशा जब प्रतीक्षा के पथ पर चलती है, तो शायद निराशा के सिवा उसके हाथ और कुछ नहीं लगता। सो आज कई दिनों की उत्कट प्रतीक्षा के बाद में निराश-हताश होकर—यद्यपि मन ऐसा मानने को आज भी तैयार नहीं—यहाँ से जा रही हूँ और छोड़े जा रही हूँ तुम्हारे लिए इस ख़त को, इस आशा से कि अगर कभी तुम यहाँ आओ और फिर अपनी सर्वप्रिय पुस्तक 'पेसीलिया और दार्शनिक' को खोल कर देखो, तो इसे भी पा सको। बिना तुम्हारे पते-ठिकाने के तुम तक अपनी बात पहुँचाने का आज मुझे और कोई साधन या माध्यम नहीं सूझ पड़ता। काश, तुम इसे पा सको और पढ़ो!

"प्रियतम, यदि तुम मेरा विश्वास कर सको, तो सच मानना, इस

बँगले की दीवारें इस बात की साक्षी है कि मैं तुम्हें और तुम्हारी बातों को याद कर-कर के कितनी रोई हूँ। इस बँगले की जो दीवारें एक दिन हमारे उच्छल प्रेम के मुक्त हास्य और चुम्बन-आलिंगन से संगीतमय हो उठी थीं, आज मेरी आहों से हिल रही हैं और इनकी एक-एक ईंट मेरे साथ मिल कर मानो आठ-आठ आँसू रो रही है। वह लैम्प, जिसे बुझाने को मैं और तुम अक्सर मचल-झगड़ पड़ते थे, आज मानो जलने से पहले और बुझने के बाद की अपनी सारी कहानियाँ एक ही कम्पन के साथ कह डालने को उतावला हो रहा है। पर ये दीवारें, यह लैम्प, ये पुस्तकें आदि सब इतने छोटे और छिछले नहीं हैं कि मेरी तरह जो मन में आए, कह डालें। इन्होंने बातें सहना और पचाना सीखा है। पर मैं ? मैं तो मानो आज शब्दमय होकर तुम पर बरसे बिना जैसे अपने-आपको सम्हाल ही नहीं सकती। आज इस बाढ़ को काग़ज़ पर लिपिबद्ध किए बिना मैं चैन से नहीं बैठ सकूँगी।

"लो, ये आँसू भी थम गए। बच्चे की तरह कभी-कभी शायद ये भी जब कोई देखनेवाला न हो, तो नहीं मचलते। हाँ, तो अब मैं अपनी बात कहूँ। पर कैसे आरम्भ करूँ, यही समझ में नहीं आता। तुम्हें शायद याद होगा कि एडवर्ड एक दिन मुझ पर प्राण देता था। पर मैं उसे नहीं, तुम्हें चाहती थी। इसीलिए कई बार मैंने उसका अपने माता-पिता तथा उसके दोस्तों के सामने और नाच-पार्टियों तक में अकारण अपमान भी किया। परन्तु इससे उसके मन को उतना आघात न लगा, जितना कि मैं सोच रही थी; और उसके प्रेम-पत्र बराबर आते रहे। आख़िर मैंने तुमसे विवाह कर लिया और उसे इसकी सूचना या निमंत्रण तक न भेजा। फिर भी वह हमारे विवाह-भोज में आया और मुझ से नाचने का प्रस्ताव भी किया। जब मैंने उसके साथ नाचने से इन्कार कर दिया, तो उसने मेरे कान में फुसफुसाया—'धृष्ट लड़की; तू बहुत बड़ी ग़लती

कर रही है। पर याद रखना, जिस दिन तू अपनी इस ग़लती को महसूस करे, मेरे पास चली आना। मेरे द्वार तेरे लिए सदा खुले रहेंगे। मैं तेरे लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करूँगा।' इसके बाद एडवर्ड तो दिखाई नहीं दिया, पर उसके पत्र (जिन्हें प्रेम-पत्र भी कहा जा सकता है) बराबर आते रहे। उनमें लगभग पहले की-सी बातें ही होती थीं। अनावश्यक समझ कर मैंने उनकी चर्चा तुम से कभी नहीं की। पर उस दिन जब हँसी-हँसी में तुमने मेरे नाम आया उस ख़ब्ती का ऐसा ही एक पत्र खोल कर पढ़ लिया और फिर मुझ से कहा—'यह लो तुम्हारे प्रेमी का पत्र!' तो मुझे ऐसा लगा कि उस दिन तुम्हारी हँसी में हँसी से ज़्यादा व्यंग्य का पुट था। उस शाम की चाय, खाने और सोने के समय की तुम्हारी उदासीनता, उपेक्षा-भाव और ठंडेपन को मैं आज भी नहीं भूल सकी हूँ। तुम ने मुँह से तो कुछ नहीं कहा, पर तुम्हारे व्यवहार में हुए परिवर्तन से यह स्पष्ट हो गया कि हम-तुम नदी के दो तटों के पास-पास बहनेवाले दो तिनकों की तरह थे, जिनकी दिशा एक होने पर भी जिनमें व्यवधान काफ़ी था।

"और इस व्यवधान का आधार था सन्देह—तुम्हारा वह अकारण और निराधार सन्देह, जो मेरे प्रेम के लिए दावाग्नि और मेरे स्वाभिमान के लिए मरणान्तक आघात सिद्ध हुआ। सन्देह का आघात पाकर नारी का अहम् बड़े-से बड़ा अनर्थ करने को उद्यत् हो जाता है। वही मैंने भी किया। तुम्हारे नीच सन्देह का उत्तर देने को ही मैंने बिना तुम्हें तलाक़ दिए उसी एडवर्ड से प्रेम का अभिनय (हाँ, प्रेम नहीं, सिर्फ़ प्रेम का अभिनय) करना शुरू किया, जिसके लिए मेरे मन में घृणा, अवज्ञा और दया के सिवा कुछ भी न था। मैंने जान-बूझ कर उसे तुम्हारे घर पहुँचने के समय बुलाना और देर तक रोकना शुरू किया। बेचारा एडवर्ड! काश, वह इस मनोवैज्ञानिक गुत्थी को समझ सकता!

"आख़िर तुम्हारे पाशविक सन्देह की पूर्णाभिव्यक्ति हुई और तुम्हीं ने चरित्रहीन बता कर मुझे तलाक़ दे दी। इस बात की नौबत आने तक न जाने कितनी बार मेरे मन में आया कि तुम से सारी बातें साफ़-साफ़ क्यों न कर लूँ; पर मेरे विवेक पर सदा अहम् की ही विजयी हुई और यह सोच कर मैं चुप रही कि जब मैं निर्दोष हूँ, तो मैं ही क्यों कैफ़ियत दूँ? और किस बात की? किसको? तुमने तो अपने सन्देह को इतना सम्पूर्ण सत्य मान लिया कि मुझ से कभी कुछ पूछा तक भी नहीं—बात भी नहीं चलाई।

"पर आज मैं समझ रही हूँ कि अहम् के वशवर्त्ती हो मैंने कितनी भयंकर भूल की, कितना मँहगा जुआ खेला! एक नारी के अहम् ने, एक नारी की स्वाभिमान-भावना ने, तीन दिलों को तोड़ा है—तुम्हारा, एडवर्ड का और मेरा। तुम्हारा इसलिए कि तुम हृदय से मुझे चाहते थे और यह बर्दाश्त नहीं कर सके कि एडवर्ड मुझे उस तरह के पत्र लिखे। मेरा इसलिए कि मैं यथार्थ में तुम्हें ही चाहती थी, चाहती हूँ और तुम्हारे बिना मेरे जीवन का कोई अर्थ ही नहीं। और उस बेचारे ग़रीब एडवर्ड का इसलिए कि मैं उसे न कभी चाहती थी, न चाह सकती हूँ और तुम्हारा दिल जलाने को मैंने उसके साथ प्रेम का जो अभिनय किया, उससे उसे पक्का विश्वास हो गया कि मैं उससे प्रेम करती हूँ! जब हमारे तलाक़ के बाद उसने मुझ से विवाह का प्रस्ताव किया और मैंने कहा कि 'वाहरे बुद्धू! यह शक्ल और मुझ से विवाह!' तो उसको कितना आघात लगा, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसने दूसरे ही दिन चलती हुई रेलगाड़ी के आगे गिर कर आत्मघात कर लिया! उससे तो अब माफ़ी माँगने तक का मेरा अधिकार भी छिन गया। और तुम से क्या कहूँ—कहने को बहुत-कुछ है, पर अब कुछ भी कहने को जी नहीं चाहता। कहना मैं केवल यही चाहती हूँ कि

नारी-हृदय प्रेम करके अविश्वास और सन्देह करना नहीं जानता; वह इसे कभी बर्दाश्त भी नहीं कर सकता। ग़लती दरअसल मेरी थी या तुम्हारी, अब इसके विश्लेषण से कुछ भी बनना-बिगड़ना नहीं। पर यदि कभी मेरा यह पत्र तुम्हारे हाथ पड़े, तो एक क्षण अपने हृदय पर हाथ रख कर सोचना कि कितनी छोटी-सी बात कभी-कभी अच्छे-अच्छे दाम्पत्य-जीवन के सुख-सन्तोष को धूल में मिला सकती है। मैं तुम्हें आज भी उतना ही चाहती हूँ, जितना कि पहले कभी चाहती थी; पर अपने स्वाभिमान को तिलांजलि देकर, रो और गिड़गिड़ा कर, मैं तुम्हारी बाहों के आश्रय की भीख नहीं माँगूँगी !

"मुझे इस बात में रत्ती-भर भी सन्देह नहीं कि अपने इष्टदेव के बिना मेरे लिए जीवन एक अभिशाप-सा ही हो जायगा; पर मेरे लिए और कोई चारा भी तो नहीं। जिसे मैंने अपना प्राणधन समझा था, उसकी तो उसी दिन मृत्यु हो चुकी, जिस दिन एडवर्ड के उस पत्र ने उसमें के सोए हुए दानव की स्वार्थान्धता, पशु के भोग-जनित सन्देह को जगा दिया और मैंने समझा कि प्रेम का निर्मल निर्विकार पौदा ऐसे गंदे स्थान में भला कैसे पनप सकता है। उसी दिन मेरे नारीत्व को ठेस लगी, मेरा सोया स्वाभिमान जागा और मैंने तय किया कि चाहे मेरा भ्रम या ग़लती ही क्यों न हों, पर इस दिन से पहले की अपनी प्रेम की स्मृति के सहारे ही शेष जीवन बिता दूँगी, परन्तु ऐसे पशु को फिर अपना गलहार नहीं बनने दूँगी। अगर कभी तुम्हें अपनी ग़लती…!"

इसके बाद के ख़त के सफ़े ग़ायब थे। उत्सुकतावश मैंने 'पेसोलिया और दार्शनिक' पुस्तक फिर उठाली और उसमें बड़ी सावधानी से ख़त के आगे के सफ़े ढूँढे, पर उनका कुछ भी पता नहीं चला। ख़त अधूरा ज़रूर था; परन्तु जितना था, उतने में ही काम की बात लगभग पूरी आ गई थी। और मैं जैसे विचारों के एक भँवर में जा फँसा। मेरी

आँखों के सामने रूस की लेखिका और उसके 'प्रियतम एफ०' की दो काल्पनिक मूर्तियाँ आ खड़ी हुईं और उन दोनों के बीच में खड़ी थी मानो एडवर्ड की रेल से कटी हुई लाश! मेरा सिर चकराने-सा लगा और दोनों हाथों से उसे थाम मैं कुर्सी पर आ बैठा।

❀ ❀ ❀

इस स्थिति में मैं कब तक बैठा रहा, पता नहीं। मेरी तन्द्रा उस समय टूटी जब कि चपरासी ने फिर आकर पूछा—"हुज़ूर नहा-धो तो चुके होंगे। लंच के लिए होटल तशरीफ़ ले जायँगे या खाना यहाँ ले आऊँ?"

"नहीं, अभी तो खाना यहीं ला दो"—मैंने अपनी अन्यमनस्कता को छुपाने की चेष्टा करते हुए कहा—"तब तक मैं नहा-धो लेता हूँ।"

पर मेरी उत्सुकता जैसे सब्र करने को तैयार नहीं थी। ज्यों ही चपरासी खाना लाने को जाने के लिए दरवाज़े की ओर मुड़ा कि मेरे मुँह से अनायास निकल गया—"ज़रा सुनना। तुमसे एक बात पूछनी है।"

चपरासो लौट कर अपनी बड़ी-बड़ी आँखें फाड़ कर मेरी ओर देखते हुए बोला—"जी हुज़ूर, फरमाइए।"

एक क्षण को मैं असमंजस में पड़ा कि बात कैसे शुरू करूँ। फिर कुछ साहस कर पूछ बैठा—"अच्छा, कोई साहब आया करता था क्या?"

"जी हुज़ूर, यहाँ तो हर साल कई साहब और मेम साहब आते रहे हैं। इसी साल ज़रा कम आए।"

मुझ पर जैसे पानी पड़ गया। इस अपढ़ आदमी से कैसे पूछता कि यह 'एफ़०' कौन था, किस साहब का नाम है यह? मुझे सोचता देख कर चपरासी बोला—"आपका मतलब फर्डिनेण्ड साहब से तो नहीं? खुदा उन्हें हज़ारी उम्र दे, हुज़ूर, उन-सा नेक इन्सान मैंने देखा ही

नहीं। वे हर साल बड़े दिनों की छुट्टियाँ यहीं बिताते थे। शिकार का बड़ा शौक़ था उन्हें।"

सूत्र का एक छोर जैसे सहसा हाथ लगा। मैंने कहा—"हाँ, वही फर्डिनेण्ड साहब। तो क्या वे अकेले ही यहाँ आते थे?"

"नहीं हुज़ूर, उनकी मेम साहब भी साथ होती थीं। कोई ५-६ साल पहले मेम साहब अकेली आईं और साहब के नाम एक ख़त लिख कर उस लाल किताब में रख गईं और मुझ से कह गईं कि 'जब साहब आवें, उन्हें हमारा सलाम देना और यह किताब वाला ख़त उन्हें पढ़ा देना।' इसके लिए उन्होंने मुझे १०) बतौर बख़्शीस के पेशगी भी दिए थे। पर साहब फिर कभी यहाँ नहीं आए। मेम साहब अलबत्तः हर साल आकर पूजा की छुट्टियाँ यहीं बितातीं और साहब का इन्तज़ार करतीं। पर साहब न आए और न उनका कोई पता ही लगा। पिछले साल मेम साहब ने मुझे फिर १०) बख़्शीस और दी और कहा कि 'साहब आवें, तो कह देना कि हम विलायत चला गया'।"

फिर ज़रा गंभीर होकर उसने कोट के भीतर की जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाल कर मुझे दिखाते हुए कहा—"मेम साहब की दी हुई बख़्शीस के ये २०) रुपए मैंने विरासत समझ कर अपने पास ही जमा कर रखे हैं, क्योंकि न मैं साहब को उनका ख़त दे सका और न ही उन तक उनका पैग़ाम पहुँचा सका, फिर भला इस बख़्शीस का हक़दार मैं कैसे हो सकता हूँ?"

मेरे होंठों पर एक फीकी हँसी दौड़ गई। चपरासी की यह वफ़ादारी अपने-आप में एक उल्लेखनीय कहानी थी; पर मैं तो इस समय उससे भी बड़ी साहब और मेम की कहानी के रहस्य की घुण्डी खोलने में व्यस्त था। सो उससे सिर्फ़ यही कहा—"बहुत अच्छा! अब जाकर खाना ले आओ।"

ख़त को पहले की तरह ही मोड़ कर मैंने 'पेसीलिया और दार्शनिक' पुस्तक में रख पुस्तक को यथास्थान रख दिया और कमरे में टहलने लगा। बार-बार मेरी आँखें आलमारी में रखी 'पेसीलिया और दार्शनिक' की ओर जाती थीं, मानो एक बहुत बड़ा जीवित रहस्य उसमें दबा पड़ा हो!

११

फूलों की रानी

एक दिन बारामूला की तरफ से आनेवाली सड़क पर से दो राहगीर गुजरे। उनकी मोटर खराब हो गई थी, अतः उसे सड़क पर ही छोड़, वे उसे धकेलने के लिए कुछ आदमियों की तलाश में इधर-उधर उत्सुकता-भरी दृष्टि से ताकते हुए चले आ रहे थे। हमीदा अपनी माँ की फिरन के एक सलवट को पकड़े, उसके साथ-साथ तेजी से कदम बढ़ाती हुई खेत की ओर चली जा रही थी। इन्हें देखकर सामने से आनेवाले राहगीर ने पूछा—'क्यों बड़ी अम्मा, यहाँ नजदीक कोई गाँव है? हमारी मोटर खराब हो गई है। उसे धकेलने के लिए तीन-चार आदमी मिलते, तो ठीक होता।'

हमीदा की माँ ने पीछे मुड़कर बाईं ओर को पहाड़ी के साए में खड़े चिनार के वृक्षों के एक झुण्ड की ओर हाथ से इशारा करते हुए कहा—'हां, वह गाँव है। वहाँ तुम्हें कोई-न कोई जरूर मिल जाएगा।'

'शुक्रिया।' कहकर राहगीर अपनी स्त्री के साथ आगे बढ़ गया। हमीदा की माँ तो आगे चल पड़ी, पर वह स्वयं आँखें फाड़-फाड़कर राहगीर के साथवाली स्त्री के जूड़े से बँधे मालती के गजरे को देखने लगी। कुछ क्षण हसरत-भरी निगाह से उसे देखने के बाद दौड़कर हमीदा माँ के साथ हो ली और हाँफते हुए पूछा—'अम्मीजान, यह औरत किस मुल्क की है?'

'मैं क्या जानूं ?' सहज भाव से उसके मुँह से निकल गया और फिर उसी साँस में बोली—'नीचे मैदान ही के किसी हिस्से से आई मालूम देती है। क्यों, क्या बात है ?'

'कुछ खास तो नहीं !' बात टालते हुए हमीदा बोली और फिर एक ठण्डी साँस लेकर कहा—'उसके जूड़े में वह गजरा कितना खूबसूरत जान पड़ता था ? काश, मैं भी...' और जैसे लजाकर, हतप्रभ होकर वह चुप हो रही।

चलते चलते ही हमीदा की माँ ने एक सरसरी निगाह उसके चेहरे पर डाली। अपनी हँसी को दबाने की चेष्टा करते हुए उसने कहा—'पगली कहीं की ! अरी, ये तो कोई रईस खानदान के लोग मालूम होते हैं। हम गरीबों को भला, ये फूल और गजरे कहाँ मयस्सर ?'

हमीदा गम्भीर हो गई। माँ की ओर उसने नहीं देखा। उसकी आँखें सामने जानेवाली सड़क पर लगी थीं, पर उसके दृष्टि-पथ पर मानो तरह-तरह के फूलों के गजरे ही गजरे तैर रहे थे। और जैसे उसके होंठ चुपचाप कह रहे हों—'काश मैं भी...... !'

सूरज खेत में ही छिप चुका था। घर लौटते-लौटते काफी अन्धेरा हो चला था। हमीदा की माँ ने घर पहुँचकर पीछे की ओर देखा, तो हमीदा को गायब पाया। एक क्षण वह द्वार की चौखट पर कुछ सोचने को रुकी और फिर भीतर चली गई।

कुछ क्षण बाद हमीदा फिरन के झोले में लाल, पीले, सफेद फूल लिए आई और बिना किसी से कुछ कहे-सुने सहन के एक कोने में जा बैठी। माँ को खाना बनाने में व्यस्त देखकर उसने एक तिपाई पर चढ़ टांड पर से सूई-डोरा उतारा और फिर सहन के कोने में जा बैठी। बड़े कठिन प्रयास के बाद उसने उन फूलों को टेढ़े मेढ़े रूप में किसी तरह डोरे में टांका और अपने घुटने पर रख लिया। फिर अपने सिर

पर से टोपा उतारकर बालों की वेणी गूँथी और फूलों से टँका डोरा उसके गिर्द लपेट लिया। फिर वह दौड़ी-दौड़ी अपनी माँ के पास गई और वेणी उसके सामने करके पूछा—'अम्मीजान, ज़रा देखो तो मैं कैसी लगती हूँ ?'

माँ ने जब बेटी की उस ढीली-ढाली वेणी और बेतरतीब टँके फूलों के गजरे को देखा, तो अपनी हँसी न रोक सकी। फिरन पकड़कर उसने उसे अपनी ओर खींचा और उसका मुँह चूमते हुए प्रसन्नता से बोली—'मेरी प्यारी बेटी, आज तो सचमुच तू फूलों की रानी ही दिखाई देती है।'

फिर हमीदा ने जाकर अपने बाप को वेणी से बँधा वह गजरा दिखाया और कहा 'अम्मी ने आज से मेरा नाम फूलों की रानी रक्खा है।'

'बहुत खूब, बहुत खूब!' उसके पिता ने प्यार से उसके गालों पर एक हलकी-सी चपत जड़ते हुए कहा—'तू सचमुच फूलों की रानी है, हमीदा! आज से मैं भी तुझे यही कहा करूँगा।'

और उसी दिन से हमीदा सिर्फ घर में ही नहीं, बल्कि पास-पड़ोस में, यहाँ तक कि सारे गाँव में, फूलों की रानी के नाम से ही मशहूर हो गई। पहले तो उसे इस सम्बन्ध से कुछ झेंप-सी मालूम होती थी, पर धीरे-धीरे जैसे यही उसका नाम बन गया। वह स्वभाव की जितनी भोली थी, उतनी ही सुन्दर भी। यही कारण था कि उसे देखकर कोई हँसकर दो-चार बातें किये बिना आगे बढ़ जाए, यह असंभव था। और हमीदा भी गाँववालों की छोटी-मोटी सेवा-टहल से कभी मुँह नहीं चुराती थी। कभी वह किसी को पानी पिला रही है, तो कभी किसी के हुक्के के लिए आग ला रही है। कभी किसी की रोटी पहुँचा रही है, तो कभी किसी के साथ बैठी चाय की चुस्कियों के

साथ मज़ाक का आनन्द ले रही है। बिना इस जन-सम्पर्क के जैसे उसका खाना ही हज़म न होता था।

२

बिस्तरे में ही दुबके-दुबके पति को हुक्का गुड़गुड़ाते देख, हमीदा की माँ ने जरा आश्चर्य के साथ कहा—'आज खेत पर नहीं जाना है क्या? इतना दिन चढ़ गया और अभी तक तुम्हारी सुस्ती दूर नहीं हुई?'

'सोचता हूं, आज खेत पर जाऊँ या न जाऊँ?' हमीदा के पिता ने कुछ गम्भीर होकर कहा। उनका चेहरा कुछ उदास था।

हमीदा की माँ ने ज़रा निकट आकर कहा—'खेत में फसल पकी खड़ी है और तुम सोच रहे हो कि जाऊँ या न जाऊँ! क्या हुआ है तुम्हारी अक्ल को आज? पागल तो नहीं हो गए?'

इसी समय बाहर कुछ लोगों के बातचीत करने की आहट पाकर हमीदा का बाप चट्टी पहनकर अपने दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ। एक व्यक्ति आस-पास खड़े लोगों को समझा रहा था—'अरे, तुम भी पागल हो, निरे पागल, जो डर रहे हो। आखिर कबाइली भी तो मुसलमान हैं। वे भला, हमें थोड़े ही लूटें-मारेंगे। वे तो हमारे उद्धार के लिए आ रहे हैं।

दूसरा व्यक्ति बोला—'उनका तो नारा ही है—सिख का सर और हिन्दू का ज़र! फिर, भला, हमें क्या डर?'

हमीदा का पिता भीतर लौट आया और हुक्का एक कोने में रखते हुए उसकी माँ से बोला—'अच्छा, तो मैं खेत पर जा रहा हूँ। पीछे से तुम लोग होशियार रहना।'

आज उसके स्वर में एक थकान, आकुलता और निराशा-सी थी। जब वह सड़क पर अपने खेत की ओर बढ़ा, तो उसका दिल बैठा-सा

जा रहा था और पाँव पीछे लौट पड़ने को व्यग्र हो रहे थे। अभी वह कुछ ही कदम चल पाया था कि सामने तेज़ी से धुआँ आसमान की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। कुछ और आगे बढ़ने पर उसने देखा, सड़क के आस-पासवाले शाली के खेत और मकान आग की लपटों में सिसक-से रहे हैं।

अचानक वह रुक गया और दूर से आते हुए कोलाहल के बीच सुना—अल्ला हो अकबर ! रोज अल:सुबह अजान की यह बांग उसमें एक अजीब पाकीजगी और पाक परवरदिगार के प्रति एक श्रद्धा पैदा कर देती थी। पर आज असमय आ रही यह बांग जैसे उसमें एक अजीब-से डर और हैरत की सृष्टि कर रही थी। एक खौफनाक नजारा उसके सामने था और ज्यों-ज्यों आक्रमणकारियों का शोर नज़दीक आता जाता था, ऐसा मालूम दे रहा था, मानो मौत का साया उस पर अपने पंजे फैला रहा हो। हक्का-बक्का होकर वह उलटे पांव गाँव की तरफ दौड़ा। अभी वह दो-चार डग ही भर पाया था कि हवा में सनसनाती एक गोली उसकी गुद्दी पर आकर लगी और बाईं कनपटी से पार हो गई। एक चीख मारकर वह वहीं ढेर हो गया। कुछ क्षण छटपटाकर उसका शरीर एक लोथड़े की तरह निर्जीव-निस्पन्द हो गया।

इसके बाद शस्त्रास्त्रों से लैस कबालियों से भरी फौजी मोटरें धड़धड़ाती हुई आने लगीं। गाँव के पास आकर मोटरें रुक गईं और उनमें से बन्दरों की तरह कूद-कूदकर कबाइलियों ने अन्धाधुन्ध लोगों को मारना, लूटना और घरों में आग लगाना शुरू किया। किसी-किसी से उन्होंने पूछा—'तुम हिन्दू हैं या मुसलमान ?' और उत्तर मिलने से पहले ही या तो उस पर हाथ छोड़ दिया या उसे बन्दूक के कुन्दे से दूसरी तरफ धकेलकर आगे बढ़ गये। देखते-ही-देखते सारा गाँव आग

की लपटों और पीड़ितों के हाहाकार से मानो जीवित नरक बन गया। पुरुषों के क्षत-विक्षत शव, घायल शरीर, नारियों के बलात्कार और बच्चों की बिलबिलाहट ने जैसे उस नरक की रौरवता को और कई गुना बढ़ा दिया था।

हमीदा की माँ ने अपने घर का दरवाज़ा भीतर से लगा लिया था और अपनी बेटी को छाती से चिपकाए सांस रोके जीवन-मरण की घड़ियाँ गिन रही थी। सहसा दरवाज़े पर कई आघात हुए और वह चरचराकर टूट गया तथा कई आदमी भीतर घुस आए। हमीदा की माँ उठे-उठे तब तक एक आक्रमणकारी ने आगे बढ़कर राइफल कोने में खड़ी कर फिरन पकड़कर हमीदा को उसकी गोद से घसीट लिया और कन्धे पकड़कर उसे सीधी खड़ी करते हुए बोला—'ओः औरत है, कितना खूबसूरत !' फिर अपने साथी से बोला—'उस बड़ी औरत को तुम सँभालो, यह हमारा है !'

यह कहकर उसने हमीदा को जमीन पर गिरा दिया। भय से काँपते हुए दोनों हाथों को उठाकर उसने कहा—'हम मुसलमीन, मुसलमीन, खुदा कसम। तुम हमारा बिरादर मुसलमीन, मुसलमीन।'

शैतान की तरह क्रूर अट्टहास कर के आक्रमणकारी ने कहा—'ओः हुशियार खातून ! हम नहीं जानता, कुछ नहीं।' और एक झटका देकर उसने हमीदा का फिरन फाड़ डाला और फिर बाज की तरह उस पर टूट पड़ा। एक चीख हमीदा के गले को फाड़कर निकली और दूसरे ही क्षण वह बेहोश हो गई।

हमीदा की माँ की आँखों में खून उतर आया। अपनी इज्जत और अपनी बेटी की असमत वह जीते-जी धूल में नहीं मिलने देगी। सिंहिनी की तरह वह उस शैतान आक्रमणकारी की ओर झपटी। पर बीच ही में उसके साथी ने बंदूक बीच में कर उसे रोक लिया और

दूसरे ही क्षण उसने अपने-आपको इस शैतान के चंगुल में पाया। एक कँपकँपी उसको भी बेहोश-सा कर गई। और कोई उपाय न देख, उसने मुँह से ही इस दूसरे शैतान की नाक और कान आदि काटने शुरू किए। पर शीघ्र ही एक फौलादी मुक्के ने हमीदा की माँ के सिर को ज़मीन से टकराकर शांत कर दिया।

३

हमीदा को जब होश हुआ तो उसने देखा, उसकी माँ का सिर एक मैले कपड़े की पट्टी से बँधा है। सारी पट्टी खून से तर हो रही थी। और वह लेटी-लेटी टुकुर-टुकुर आसमान की ओर देख रही थी। हमीदा की आँखें खुली देखकर वह घसिटती-घसिटती उसके पास आई और 'मेरी बेटी, मेरी प्यारी हमीदा' कहकर उसके सीने पर मुँह रख फूट-फूटकर रोने लगी। हमीदा के जी में आया कि वह भी दहाड़ मारकर रोए। पर न जाने क्यों, उसके कलेजे और गले में जैसे कुछ हिलग-सा रहा था। चाहकर भी वह रो न सकी। माँ की आँखों से गिरनेवाले आंसू जैसे उसके सीने की आग में घी का काम करने लगे। फिर भी वह चीखकर रो न सकी। एक सिहरन उसके शरीर को कँपा गई और वह वस्तु-स्थिति का भान भूल निर्जीव-सी हो रही।

काफ़ी देर तक हमीदा के सीने पर सिर रखकर सिसकने के बाद उसकी मां अपनी टूटी हुई देह की सारी शक्ति समेट कर जैसे उठी और काँपते हुए होंठों से पूछा—'मेरी बेटी, कैसी है तू ?

हमीदा को आंखें एक क्षण स्थिर रूप से माँ के चेहरे पर लगी रहीं और फिर उनकी पुतलियाँ सहसा उमड़नेवाले अश्रु-जल में डूबने-सी लगीं। उसके होंठ काँपे ज़रूर, पर कोई आवाज़ न निकली। धीरे-धीरे उसके दोनों हाथ ऊपर उठे और माँ के सिर को मज़बूती के साथ अपने सीने से लगाकर शिथिल से हो रहे। हमीदा की माँ ने देखा,

उसका दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा है। हमीदा की माँ ने उसके हाथों से छुड़ाकर अपना सिर ऊपर उठाया और बेटी की आँखों में आँखें डालकर पूछा—'मेरी बेटी, हमीदा कैसी तबीअत है अब तेरी ?'

हमीदा माँ की तरफ़ देख ज़रूर रही थी, पर उसके मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। उसे इस हालत में देख उसकी माँ भय और आशंका से दहल-सी जाती थी। कुछ क्षण बाद फिर साहस कर उसने पूछा—'बेटी हमीदा, कुछ तो बोल। मैं तेरी माँ हूँ, बेटी ! मुझे भी नहीं पहचानती ?'

कुछ दिन बाद हमीदा के शरीर के घाव भर गये, पर उसके मन पर लगे आघात मानो सदा के लिए नासूर बनकर रह गए। अब न किसी को पहचानती है और न किसी से बात करती है। जब कभी वह किसी अजनबी को अपनी ओर आता या अपने पास से गुज़रता देखती है, तो आतंक और आशंका से आँखें फाड़कर 'मुसलमीन, मुसलमीन' कहती हुई घर में भागकर छिप जाती है।

उसकी माँ के लिए यह जैसे एक नया आघात होता है। पर अब वह इन्हें सहने की आदी हो गई है—शायद इसीलिए न अब उसके होंठ काँपते हैं, और न आँसू ही आते हैं।

१२

चोर

मिल की सीटी बजी और सब मज़दूर इस तरह हँसते-बोलते हुए बाहर निकले, जैसे कि छुट्टी होने पर स्कूल से लड़के निकलते हैं या जेल से कैदी। उनके चेहरों पर सन्तोष और प्रसन्नता के भाव थे, मानो जेलखाने से छूट कर खुली हवा में सांस लेने का मौका मिलने से वे बेहद खुश हैं। प्रायः सभी थके हुए दीख पड़ रहे थे। उनके चेहरों पर पसीना स्पष्ट झलक रहा था और कपड़े बिल्कुल काले हो रहे थे। उनके कपड़ों से यह जान पड़ रहा था, मानो नये पहनने के बाद वे कभी धोये ही नहीं गये हों।

बड़े फाटक के पास पड़ी हुई बेंच पर बैठ कर बीड़ी पीने वाले चौकीदारों ने जल्दी से जूतों में पाँव डाले और लाठियाँ ले लेकर सजग होकर खड़े हो गये। फाटक से गुज़रने वाले मज़दूरों को वे नीचे से ऊपर तक बड़ी सावधानी से देखने लगे। अचानक भीड़ को चीरता हुआ एक हैड-जाबर जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ एक चौकीदार के पास आया और उसके कान में कुछ कह कर झट से बाहर निकल गया। चौकीदार की आँखें एक क्षण के लिये चमक उठीं और वह अधिक सतर्क हो गया। दूसरे ही क्षण उसने भीड़ में से लल्लूसिंह ज़ाम के एक मज़दूर को बाँह पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया और अपने पास खड़ा करते हुए कहा—'यहाँ खड़ा रह।'

लल्लूसिंह ने सकपका कर चौकीदार के मुँह की तरफ देखा और गिड़गिड़ा कर बोला—'जमादारजी, आखिर मेरा क्या कसूर है, कुछ बतलाइये तो सही ? मैं रात-भर का भूखा हूँ, पेट में आग लगी हुई है, घर पर बीबी-बच्चे इन्तज़ार........।'

'भाड़ में गये तेरे बीबी-बच्चे'—चौकीदार ने कड़क कर कहा—'भूख-वूख सारी तेरी अभी यहीं निकल जायगी अगर ज़्यादा बकबक की तो। आदमी की तरह चुपचाप खड़ा रह।'

लल्लूसिंह चुप होकर खड़ा रहा। पास से गुज़रने वाले मज़दूर उसे घूर-घूर कर देखने लगे। एक ने कहा—'इस बिचारे को मिल वाले हमेशा तंग किया करते हैं। दूसरा बोला—'यह तो बिल्कुल सीधी गाय है। इस चौकीदार को कुछ दिया न होगा, इसी से यह अदावत निकाल रहा है।' तीसरा बोला—'किसी के जी को कौन कह सकता है ? मुमकिन है, इसी का कसूर हो।' चौथा बोला—'लल्लूसिंह भी कम रकम नहीं है; सबसे अकड़ जाता है। अब बच्चू को छठी का दूध याद आ जायगा !'

लल्लूसिंह एक निर्जीव बुत की तरह चुपचाप खड़ा था। उसकी आँखें जमीन में धँसी जा रही थीं। दिल तेजी से धड़क रहा था। उसके कानों में पड़ने वाली अपने सहयोगियों का व्यंग, उपहास, अविश्वास और असहानुभूति की बातें अगणित साँप-बिच्छुओं के दंशन से भी अधिक तीखी मालूम हो रही थीं। उसके मन में बार-बार यही सवाल उठता था कि यह लोग उसके बारे में न मालूम क्या सोचते होंगे ? कल तक का शरीफ़ और कइयों का जिगरी दोस्त लल्लूसिंह आज सिर्फ चौकीदार के रोक लेने पर ही चोर और बदमाश बन गया ? अभी वह इस उधेड़-बुन में ही पड़ा था कि चौकीदार बाँह पकड़ उसे घसीटता हुआ बोला—'चल, आज बड़े सेठ के सामने तेरी पेशी होगी।'

लल्लूसिंह बिना कुछ कहे चौकीदार के साथ-साथ चल पड़ा। डरते-डरते उसने फिर पूछा—'पर जमादारजी, आखिर मेरा कसूर क्या है, कुछ बतलाइये तो सही ?'

चौकीदार ने झटका देकर उसे आगे बढ़ाते हुए कहा—'जल्दी-जल्दी पाँव उठा, नहीं तो अभी जूतों से तेरी टाट गंजी कर दूँगा। ज़रा सेठ जी के सामने तो चल, अभी सब मालूम हो जायगा। बहुत दिनों से तू हम सबकी आँखों में धूल झोंकता आरहा है। आज बच्चू को नानी याद आ जायगी। तू समझता होगा कि मिल में सब के सब अन्धे हैं, एक तू ही आँखों वाला है !'

लल्लूसिंह कुछ न बोला। चुपचाप चलता रहा।

२

मिल के पिछवाड़े के खाली मैदान में उसके मालिक की कोठी है। उसके चारों ओर एक छोटा सा बाग़ है। कोठी और बाग़ की देख-रेख के लिये कोई १२-१३ नौकर हैं और प्रति मास सफ़ाई सजावट के लिये हज़ारों रुपये खर्च किये जाते हैं। सेठजी अधेड़ वय के, किन्तु ज़रा रंगीली तबीयत के आदमी हैं। कोई सन्तान न-होने से उनका लगभग आधा दिन पूजा-पाठ और दान-पुण्य में बीतता है और आधी रात नाटक, सिनेमा, पार्टियों और नाइट-क्लबों में। सेठानी जी न सुशिक्षिता हैं, न सुन्दर और न आधुनिका, इसलिये उन्हें अपने धर्म-कर्म की पूरी आज़ादी दे रखी है। उन्हें एक मोटर और हाथ-खर्च के लिये ५००) मासिक मिलता है।

सेठ साहब अभी बिस्तरे पर ही बैठे-बैठे सुबह का अख़बार पढ़ रहे थे। चौकीदार के इत्तिला अर्ज करवाने पर उन्होंने उसे बुलवा भेजा। पूछा—'क्या बात है ? सुबह-सुबह क्यों मेरी खोपड़ी खाने आ पहुँचा।'

चौकीदार ने पीछे खड़े हुए लल्लूसिंह की बाँह पकड़ कर आगे

बढ़ाते हुए कहा—'हुज़ूर इसने चोरी की है। रात के शिफ्ट की छुट्टी होने पर जब यह जा रहा था तो हैड-जाबर साहब के ख़बर देने पर मैंने इसे पकड़ा है।'

'क्या चोरी की है?'—सेठजी ने मुँह का पान चबाते हुए कहा।

चौकीदार ने लल्लूसिंह का कुर्ता आगे से ऊपर उठा दिया और बोला—'यह देखिये, हुज़ूर।'

एक चौड़ी किनारी की छोटी जनानी धोती लल्लूसिंह के पेट के पास लिपटी हुई थी। इससे पहले कि वह कुछ बोले, सेठ का पारा चढ़ गया। अख़बार दूर फेंकते हुए तमक कर वे बोले—'क्यों बे हरामज़ादे यहाँ मज़दूरी करने आता है या चोरी करने?'

'हुज़ूर सच मानें, मैं चोरी नहीं करना चाहता था। मैं '

'क्यों नहीं? तू तो हम पर एहसान करना चाहता था? हैं?'—बीच में ही बात काटते हुए सेठजी ने कहा—'और यह धोती किस लिये छिपाकर रखी है?'

'हुज़ूर, मेरी पिछली मजूरी में से ८॥) तो जुर्माने में कट गये; बाकी सब देनदार ऐसे झपट ले गये जैसे कि चील हाथ से खाने की कोई चीज़ झपट ले जाती है।'

'यह क्या चील और बटेर के किस्से शुरू कर दिये? हम पूछते हैं कि तूने यह धोती क्यों बांध रखी है?'

'हुजूर, यही तो मैं अर्ज कर रहा था'—हाँफते हुए लल्लूसिंह ने कहना शुरू किया—'अब मेरे पास फूटी कौड़ी भी नहीं बची। मेरी औरत की धोती एकदम तार-तार हो गई थी। कल रात को रोटी बनाते समय कई जगह से जल भी गई। खाने-पीने का सामान तो उधार मिल जाता है, पर कपड़ा मिल की दुकान वालों तक ने उधार देने से इन्कार कर दिया। वे कहते हैं कि तेरे पर आगे ही बहुत पैसे बाकी

हैं, अब तुझे उनके वसूल होने तक कुछ भी नहीं मिलेगा। सरकार फिर मैं क्या करता? औरत की जात को बदन ढकने के लिये कपड़ा तो चाहिये ही। बच्चे तो नंगे भी रह सकते हैं, पर औरत······।'

'वस बकवास बन्द कर'—सेठ जी ने कड़क कर कहा—'हम यह सब बहाने बाज़ी नहीं सुनना चाहते। साफ़-साफ़ कह तूने यह धोती चुराई या नहीं?'

'हाँ, सरकार यह ग़लती मैंने ज़रूर की, लेकिन······।'

'लेकिन-बेकिन कुछ नहीं। अगर ज़रूरत ही थी, तो हमसे आकर मांग लेता चोरी क्यों की?'

'सरकार, माँगने पर धोती तो क्या, एक चिथड़ा भी तो नहीं मिलता। पिछले २० दिनों से सब से माँगता रहा, एक दिन आपके आगे भी नाक रगड़ी; पर मेरी कोई सुनवाई नहीं हुई। आपने फरमाया कि अगर इस तरह कपड़ों की ख़ैरात बँटने लगें, तो मिल का दूसरे दिन ही दीवाला निकल जायगा?'

'अगर हमने ऐसा कहा, तो ठीक ही कहा था। सबको कपड़े मुफ्त में कैसे दिये जा सकते हैं।'

'पर मालिक'—गिड़गिड़ा कर लल्लूसिंह ने कहा—'आप करोड़पति हैं, एक धोती से आपका कुछ बिगड़ेगा नहीं और मेरी इज्जत बच जायगी। अब भी आप से मैं इस धोती की भीख माँगता हूँ। जो ग़लती हुई, उसे मैं आपसे छिपाता नहीं।'

'अब तो छिपाने या माँगने का सवाल ही नहीं रहा। तूने चोरी की है और इसकी सज़ा तुझे मिलनी चाहिये।'

'लेकिन मालिक, मुझ गरीब पर रहम कीजिये। आप ज्ञानी और धर्मात्मा पुरुष हैं। मुझे माफ कीजिये।'

'रहम या माफी किस बात की? यह तो उसूल की बात है। जो

जैसा करेगा, उसे वैसा ही भरना पड़ेगा।'

'लेकिन मेरे बीबी-बच्चों पर ही रहम कीजिये। कहीं के न रहेंगे। मेरे बिना उनका क्या हाल होगा?'

'यह तुझे पहले सोच लेना चाहिये था।'

चौकीदार को संबोधित करते हुए सेठ जी बोले—'जमादार, बड़े बाबू से बोलना कि मामला पुलिस को दे दें।'

चौकीदार ने सिर झुकाया और 'बहुत अच्छा हुजूर' कह कर लल्लूसिंह को लेकर मिल के दफ्तर की ओर चल पड़ा।

३

युग से लम्बे-लम्बे तीन महीने लल्लूसिंह ने कल्पना, आशा-निराशा और असमंजस के सहारे जेल में काट दिये। उसे नहीं मालूम कि बाहर उसके स्त्री-बच्चों का क्या हाल हुआ? जेल से और अपने नये साथियों से उसे कुछ ऐसा लगाव हो गया था कि रिहाई का हुक्म सुनाने पर वह कुछ क्षण तक यह स्थिर नहीं कर सका कि बाहर जाऊँ या न जाऊँ? कभी ख़याल आता कि बाहर जाकर क्या करूँगा? बीबी-बच्चे अब तक मेरी प्रतीक्षा में बैठे थोड़े ही होंगे? स्नेह और सहानुभूति से विहीन इस जीवन का बोझ अकेला कैसे ढो सकूँगा? कभी ख़याल आता—यहीं क्यों न रहूँ? मुझ जैसे व्यक्ति के लिये तो जेल ही स्वर्ग है। यहीं मुझे सुख है, साथी हैं, पेट भी भर ही जाता है। अभी वह अपने विचारों के ताने-बाने ही बुन रहा था कि एक संतरी ने आकर उसे अपने साथ चलने को कहा और उसे जेल के फाटक के बाहर लाकर छोड़ दिया।

पर लल्लूसिंह के पाँव आगे नहीं बढ़ रहे थे। वह मानो एक ऐसे स्थान पर खड़ा था, जहाँ से हज़ारों रास्ते फटते हैं और वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि अपने लिये कौनसा रास्ता चुने कुछ क्षण वह इसी दुविधा

में पड़ा रहा, फिर उसने तय किया कि चलने से पहले एक बार जी भर कर जेल को देख तो लूँ। यह सोच कर वह ज्यों ही मुड़ा, तो क्या देखता है कि फाटक के दूसरे कोने पर एक स्त्री मैली और फटी-पुरानी धोती में लिपटी हुई बैठी रो रही है। उसने एक क्षण कुछ सोचा और फिर तेज़ी से उस ओर बढ़ गया। स्त्री के पास पहुँच कर वह रुक गया। और न जाने वह क्या सोचने लगा? फिर अनायास उसके मुँह से निकल पड़ा—'सुखिया, ओ सुखिया।'

स्त्री की आँखें ऊपर उठीं। एक क्षण उसने अपनी सजल आँखों से लल्लूसिंह को देखा और दूसरे ही क्षण अपने गोद के बच्चे को सम्हालती हुई उठ खड़ी हुई और गद्-गद् स्वर से बोली—'मेरे मालिक, तुम छूट गये! आज़ाद हो गये!'

लल्लूसिंह का गला और आँखें भर आईं। उसने सुखिया को गले से लगाते हुए कहा—'आज़ादी हम ग़रीबों के लिये नहीं है, सुखिया। हमारे लिये तो गुलामी और मुफ़लिसी ही हैं।' स्त्री की मैली धोती के छोर से अपनी आँखें पोंछते हुए लल्लूसिंह ने पूछा—'रधिया को नहीं लाई? उसे अकेली कहाँ छोड़ आई? और यह मुनुआँ तो मज़े में है न?'

'हाँ, यह तो मज़े में ही है, अभी दूध पीते-पीते सो गया है। तुम्हें कई बार पूछा था।'

'मैं पूछता हूँ रधिया को अकेली कहाँ छोड़ आई?' ज़रा सहमी हुई आवाज में लल्लूसिंह ने कहा।

'रधिया!' सुखिया ने सिसकते हुए आँखें नीची करके कहना शुरू किया—'कितनी भली थी वह लड़की! किसी और के यहाँ पैदा हुई होती, तो घर की शोभा होती। पर हम गरीब भला उस देवी को कैसे रख सकते थे। वह निमोनिया से मर गई।'

'मर गई !' लल्लूसिंह ने चौंक कर कहा—'और तुमने मुझे ख़बर तक नहीं दी ? मैं तो ज़िन्दा था—तुम तो मर नहीं गई थीं ?'

'ख़बर कैसे देती ?'—सुखिया ने सिसकते हुए कहा—'यहाँ कई बार आई, कईयों की मिन्नत-खुशामद की कि कोई तुम से एक मिनट के लिये भी मुझे मिला दे; पर भला हमारे देशवासियों में इतनी भलमनसाहत कहाँ ? एक संतरी राज़ी हुआ, पर उसकी शर्त इतनी कड़ी थी कि मैं उसकी सहायता लेने का साहस भी न कर सकी।'

'क्या थी वह शर्त !'

'मैं कैसे कहूँ तुम से ? जाने दो, अब उन बातों में क्या धरा है ?'

'आख़िर, मैं भी तो जानूँ।'

'तुमसे मिलाने के बदले में वह मुझसे...करना चाहता था, क्योंकि उसे देने को तो मेरे पास कुछ था नहीं। यह बात भला कौन स्त्री स्वीकार कर सकती थी ?'

लल्लूसिंह के शरीर में आग-सी लग गई। उसकी आँखें लाल हो उठीं, नथुने फूल उठे। होंठ काटते हुए उसने पूछा—'कौन था वह बदज़ात संतरी !' मुझे जल्दी बताओ, मैं उसकी ख़बर लिए बिना न रहूँगा।

सुखिया ने उसका हाथ पकड़कर आगे बढ़ते हुए कहा—'यह तुम क्या पागलपन कर रहे हो ? अभी जेल से छूटे हो और फिर भीतर जाने का काम करने की सोचने लगे ? हम ग़रीब और साधनहीन मज़दूर पुलिस के संतरी का कर भी क्या सकते हैं ? वह कैसा भी बुरा हो, आख़िर है तो क़ानून और शान्ति का रक्षक ही—सरकारका प्रतिनिधि ही ! हमारा क्या मुँह, जो उसकी ख़बर ले सकें।'

लल्लूसिंह खूनका घूँट पीकर आगे बढ़ गया। दोनों चुपचाप चलने लगे। दोनों को ही नहीं मालूम था कि वे कहाँ जा रहे थे। कुछ

क़दम दोनों चुपचाप चलते रहे, फिर लल्लूसिंह ने पूछा—'हम कहाँ चल रहे हैं?'

'मैं क्या बताऊँ?'—सुखिया ने सजल नेत्रों से, दबी हुई आवाज़ में, भय-त्रस्ता हरिणी की तरह लल्लूसिंह की ओर देखते हुए कहा।

दोनों सहसा रुक गये। कुछ क्षण चुपचाप इधर-उधर की बातें सोचने के बाद लल्लूसिंह बोला—'पता नहीं, नरक में भी हमें जगह मिलेगी या नहीं? मैं अकेला तो बिना घर के भी रह सकता हूँ; पर तुम्हारा और इस बच्चे का क्या करूँ?'

सुखिया का कलेजा मुँह को आगया,—'पर वह कुछ बोल नहीं सकी। अनायास उसे ख़याल हुआ—क्या सचमुच वह अपने पति पर बोझ है? सोते हुए बच्चे की ओर ममता-भरी दृष्टिसे देखकर उसे ख़याल हुआ—क्या यह भी अपने पिताके लिए बोझ-स्वरूप है? इसे दुनिया में आने और जीने का अधिकार भी नहीं है? दुनियामें और भी तो बच्चे हैं और हैं मेरे जैसी माताएँ भी। फिर हमारे लिये ही जीवन का सवाल इतना टेढ़ा क्यों है? हमने न जाने ऐसा कौनसा अपराध किया है? सहसा लल्लूसिंहने उसका स्वप्न भंग करते हुए कहा—'यहाँ खड़ी-खड़ी क्या सोच रही हो? चलो, कहीं और ठिकाना ढूँढें।'

छाया की तरह सुखिया लल्लूसिंह के साथ-साथ आगे क़दम बढ़ाने लगी। दोनों महसूस कर रहे थे कि जैसे उनके पाँव आगे नहीं बढ़ रहे हैं। पर पीछे लौटने का कोई अर्थ भी तो नहीं था, अतः आगे बढ़ना ही पड़ रहा है। चलते-चलते लल्लूसिंह ने कहा—'यह तीन महीने तुमने कैसे काटे होंगे, सुखिया? तुम्हें परेशानी तो बहुत हुई होगी।'

'परेशानी का कुछ मत पूछो'—चलते-चलते सुखियाने कहा—

'तुम्हारे जेल जानेकी ख़बर मिलते ही कुली—लाइनमें ऐसी तब्दीली आ गई मानो एक ही दिनमें सारा वातावरण बदल गया। चारों ओरसे मुझपर तानेज़नी की जाने लगी।' कोई कहता—'इसी राँड के लिये चोरी करनेपर ललुआको सज़ा हुई।' कोई कहता—'ऐसी औरत परमात्मा किसी को न दे, जो एक दिन भी लाड़ी के बिना न काट सके!' उसी दिन शाम को मुझसे रहनेकी खोली खाली करवा ली गई। मैंने बहुत कहा कि मेरी लड़की बीमार है, चार दिन मुझे यहाँ और रह लेने दो, इसके ठीक होते ही मैं खुद चली जाऊँगी, पर पैसेवालों के हृदय है ही कहाँ, जो पसीजे?'

'तो फिर तुमने क्या किया?'

'वही; जो हम ग़रीबोंका आख़िरी सहारा है।'

'वह क्या?'

दिन-भर दोनों बच्चों को साथ लेकर गली-रास्तों की ख़ाक छानती। जो-कुछ मिलता, उससे पेट भरकर रात को किसी पेड़ के नीचे या दुकान के आगे सो रहती। सुबह उठकर फिर वही काम ...'

लल्लूसिंह सहसा रुक गया। आश्चर्य से आँखें फाड़कर सुखिया की ओर देखते हुए बोला—'तो तूने भीख माँगी, सुखिया? लोगों के टुकड़ोंपर तुमने यह तीन महीने काटे? सुखिया, तूने मेरी और मेरे कुलकी सारी इज़्ज़त-आबरू मिट्टीमें मिला दी। एक क्षत्रियके घरमें जन्म लेकर तूने भीख माँगी। सुखिया, इस जीनेसे तो बेहतर था कि रधिया की तरह तू भी मर जाती, यह मुनुआँ भी मर जाता, मैं भी...अपने दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर लल्लूसिंह रोने लगा।

सुखिया ने डरते-डरते उसकी ओर बढ़कर दबी हुई आवाज़ में कहा—'पर मेरे मालिक, और मैं करती भी क्या? तुम पुरुष हो, बच्चोंको मार सकते और खुद भी मर सकते हो। पर मैं माँ होकर

ऐसा कैसे कर सकती थी? काश, तुम माता की ममता और उस ममतावाले हृदय की दुर्बलता समझ पाते! मैं मर भी जाती—मुझे अपने प्राणोंका मोह न था—पर तुम्हारे लिये और तुम्हारे मनुओं के लिये मुझे जीना पड़ा! इसीके लिये भीख तो क्या, मुझे इस से भी बुरा और बदतर काम करना पड़ता, तो शायद मैं करती। अब व्यर्थ दुःख करने से क्या?'

लल्लूसिंह ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और रोते-रोते कहा—'हटजा, मेरे सामने से सुखिया, मैं तेरा मुँह नहीं देखना चाहता। तूने मेरी, मेरे कुलकी सारी इज्ज़त धूल में मिला दी।'

'पर मेरे देवता'—सुखियाने काँपती हुई आवाज़में कहा—'मैं और करती भी क्या? मेरे पास और चारा ही क्या था?' और सिसकते-सिसकते दोनों आगे बढ़ गये।

४

जब लल्लूसिंह कुली-लाइन में लौटा, तो उसे ऐसा जान पड़ा मानो इन तीन महीनोंमें दुनिया एकदम बदल गई है। आज प्रेम और सहानुभूति तो दूर रही, कोई उससे सीधे मुँह बात भी नहीं कर रहा था। सब स्त्री, पुरुष और बच्चे उसे इस कुतूहल से देख रहे थे मानो उसके सींग निकल आये हों या तीसरा नेत्र निकल आया हो या आदमी से वह कोई अजनबी जानवर बन गया हो! जो लोग लल्लूसिंहसे 'राम-राम भैया' कहते कभी थकते नहीं थे, वे आज पत्थरकी मूर्ति की तरह चुपचाप खड़े इस तरह से उसे घूर रहे थे मानो वह कोई भयंकर जन्तु है, जिसे वे क़तई नहीं जानते! लल्लूसिंह समझ नहीं पा रहा था कि आख़िर माजरा क्या है?

अपने एक पुराने साथी की कोठरी के सामने रुकते हुए लल्लूसिंहने कहा—'राम राम भैया, कहो मज़े में तो हो न?' पर जवाब देने के

बदले उसका साथी भय और आश्चर्यसे उसकी ओर देखने लगा। बड़ी दबी हुई ज़बान में हाथ जोड़कर उसने कहा—'हम पर कृपा करो लल्लू भाई, अभी कोई हमें बात करते देख लेगा, तो मुझे भी रोज़ी से हाथ धोना पड़ेगा!'

अभी उसकी बात पूरी नहीं हुई थी कि लल्लूसिंह तेज़ी के साथ आगे बढ़ गया। अब उसकी समझ में आया कि लोग उससे क्यों कतरा रहे हैं। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया, इस बातकी पुष्टि होती गई। उसका सिर चकराने लगा। उसे ऐसा जान पड़ा मानो दोनों ओर की कोठरियों से यही आवाज़ आ रही है—'हम पर कृपा करो लल्लू भैया, अभी कोई तुम्हें यहाँ देख लेगा तो...।' आज पहली बार लल्लूसिंह ने दुनिया को कुछ-कुछ समझा था!

जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाता हुआ लल्लूसिंह कुली-लाइनसे बाहर आ गया। बाहर कोने पर एक बनिये की परचून की वही दुकान उसे दिखाई दी, जो आजसे तीन महीने पहले भी ठीक उसी जगह और उसी शक्ल में थी। लल्लूसिंहने बनिये की ओर बढ़ते हुए कहा—राम राम सेठ जी, हो तो ख़ैरियत से? एक बीड़ी तो दो।'

बनिये ने ऊपर से नीचे तक लल्लूसिंह को बड़े ग़ौर से देखते हुए कहा—'कौन, लल्लूसिंह, राम राम भैया। कहो, कब छूटे?'

'अभी आज सुबह ही छूटा हूँ।'

'अच्छा भैया, बुरा न मानना, आजकल हमने उधार का लेन-देन बंद कर दिया है। अब तो यही हिसाब रक्खा है कि इस हाथ से पैसा दो और उस हाथ से सामान ले जाओ। उधार देकर कौन व्यर्थ के झगड़े-टंटे करता फिरे।'

'अच्छा भैया, तो मैं फिर आऊँगा'—कहकर लल्लूसिंह मिल के फाटक की ओर बढ़ गया। अभी वह फाटकमें घुसा ही था कि सामने

आते हुए एक चौकीदार ने ललकारा—'क्यों वे, कहाँ चला जा रहा है ? क्या फिर चोरी करने का इरादा है ?'

'नहीं जमादार जी, ज़रा बड़े सेठजीसे मिलना है।'

'तुझे और बड़े सेठ जी से मिलना है !' व्यंगपूर्वक अट्टहास करते हुए चौकीदार ने कहा—'अरे, बाहरे मेरे शेर ! एकदम बाहर हो जा, यहाँ से। उनकी सख़्त ताक़ीद है कि तुझे मिलमें पाँव तक न रखने दिया जाय। यहाँ चोरोंका काम नहीं है।'

बिना कहे-सुने लल्लूसिंह उल्टे पाँव पीछे लौट पड़ा। इसके बाद उसने कई मिलों, दफ़्तरों, दुकानों और न जाने कहाँ-कहाँ की ख़ाक छानी, पर उसे कहीं भी पेट भरने का सहारा नहीं मिला। कुछ दिन बाद सुना गया कि एक बनियेकी दुकानसे आटा चुराते हुए लल्लूसिंह फिर गिरफ़्तार कर लिया गया।

१३

आइसक्रीम

उस दिन थके हुए पाँव और थका हुआ मस्तिष्क लेकर कुछ विश्राम करनेकी इच्छासे एक पार्कमें जा पहुँचा। पार्क के बीच का हरी-हरी मुलायम दूबसे ढका मैदान ऐसा मालूम हो रहा था, मानो कोई बहुत बड़ा मखमली फ़र्श बिछा हो। उसमें नौकरों अथवा आयाओंके साथ आए हुए रंग-बिरंगे वस्त्रोंसे सुसज्जित बहुत से बच्चे खेल रहे थे। उनके लुका-छिपी के खेल तथा किलकारी मारकर एक-दूसरेको पकड़नेके लिए दौड़ना देखते ही बनते थे।

मैदानमें बीचोंबीच पदातिकोंके लिए लाल बजरी का एक गोलाकार बना था, जिसके किनारेके वृक्षोंकी छाया-तले थोड़े-थोड़े फ़ासलेपर बैठनेके लिए लकड़ीकी बेंचें रखी हुई थीं। इन्हींमें से एकपर मैं भी जा बैठा और बच्चोंके खेल-तमाशोंका आनन्द लेने लगा।

इसी समय मेरे सामनेसे एक प्रौढ़ वयके गौर-वर्ण सज्जन गुज़रे, जिनका दाहिना हाथ पतलूनकी जेब में था और बाएँ हाथकी अंगुली पकड़े एक ४-५ वर्षका बच्चा उनके साथ-साथ चल रहा था। सहसा पीछेसे गहरे पीले रंगका मेगनोलियाका ठेला धकेलते हुए आते एक व्यक्तिने कहा—'आइसक्रीम, बढ़िया आइसक्रीम।' बच्चेने मुड़कर पीछे देखा और रुकते हुए अनुनयपूर्ण स्वरमें कहा—'बाबूजी, हम आइसक्रीम लेंगे।'

बाबू साहबने एक विरक्तिपूर्ण दृष्टि पहले आइसक्रीमके ठेलेवालेपर और फिर बच्चेपर डाली और किंचित् भर्त्सनाके स्वरमें बोले—'जग्गू, देख तेरी यही आदत मुझे पसन्द नहीं। अभी-अभी तो हम लोग चाय पीकर आ रहे हैं। अब इतनी जल्दी उसपर आइसक्रीम खाना क्या अच्छी बात है ?'

जग्गूने, जिसमें अभी अपने पिता-जितनी बुद्धि नहीं आ पाई थी, पाँव पटककर ज़िद करते हुए रोनेको सरगम शुरू की और बाएँ हाथसे बाईं आँख मलते हुए 'ऊँ-हूँ-हूँ' करने लगा। इसपर बाबू साहब कुछ पिघले और जग्गूके साथ ठेलेवालेकी ओर लौटते हुए बोले—'एक आइसक्रीम देना।' ठेलेवालेने ठेलेका मुँह खोला और पतले कागज़में लिपटा हुआ एक आइसक्रीम निकालकर बाबू साहबको थमा दिया, जिसे उन्होंने सरसरी निगाह से देखते हुए जग्गू के हाथमें दे दिया और ठेलेवालेसे पूछा—'कितने पैसे ?'

'दो आने, बाबूजी !' ठेलेवालेने विनम्र भावसे कहा। बाबू साहबने पतलूनकी दाहिनी जेबसे चमड़ेका एक छोटा-सा बटुआ निकाला और उसे खोलकर उसमें से पैसे निकालने लगे।

जग्गू अभी आइसक्रीमपर से चिपका हुआ कागज़ उतार कर उसे मुँहके पास ले जा ही पाया था कि उसने देखा, उसके सामने लगभग उसीकी उम्रका एक श्याम-वर्ण अर्द्धनग्न बालक खड़ा भूखी आँखोंसे आइसक्रीमको घूर रहा है। उसकी खानेके लिए अधीर ज़बान बार-बार उसके होंठोंको गीलाकर फिर मुँहमें चली जाती थी। उसके बाल रूखे और धूलसे भूरे होरहे थे। उसके शरीरपर का जीर्ण-शीर्ण बनियान इतना मैला हो चला था कि उसकी श्याम-वर्ण देहका ही भाग-सा मालूम होता था। उसकी ओर उठकर जग्गूकी आँखें फिर जैसे उसके चेहरेपर से हटीं नहीं। अनायास उसका आइसक्रीमवाला हाथ उस लड़केकी तरफ़ बढ़ा

लड़केने एक दबी हुई मुस्कराहटके साथ पहले आइसक्रीमकी ओर देखा और फिर जग्गूकी ओर। उसके दोनों हाथ आधे उठे और फिर सहसा बीच ही में रुक गए। इसपर जग्गूने अपना आइसक्रीमवाला हाथ और आगे बढ़ाकर इस कमीकी पूर्ति कर दी। उस लड़केने जग्गूके हाथसे आइसक्रीम ले चूसना शुरू किया और कृतज्ञता-भरी आँखोंसे उसकी ओर देखने लगा।

बाबू साहबने आइसक्रीमवालेको पैसे देकर बटुआ वापस जेबमें रख लिया और ज्योंही जग्गू की ओर देखा, तो एकदम सन्न रह गए। एक भिखारीका लड़का जग्गू के सामने खड़ा आइसक्रीम खा रहा था और वह तृप्त-दीप्त आँखोंसे उसे आइसक्रीम खाते हुए देख रहा था। जग्गू द्वारा किए गए अपनी गाढ़ी कमाईके इस अपव्ययको वे सहन न कर सके और ज़ोरका एक तमाचा उस भिखारीके लड़केके गालपर जड़ ही तो दिया! एक तड़ाक्-से शब्दके साथ उसके हाथसे आइसक्रीम नीचे जा गिरा और उसकी आँखोंसे दो बड़े-बड़े गोल आँसू ढुलक पड़े। बाबू साहबने एक तीखी दृष्टि उसपर डाली और होंठोंको बल देकर यह कहते हुए कि 'बड़े आए साले आइसक्रीम खानेवाले!' जग्गूका हाथ पकड़कर आगे बढ़ गए।

भिखारीके लड़केने कुछ क्षण गल-गल कर मिट्टीमें मिलते हुए उस आइसक्रीमको सजल नेत्रोंसे देखा और फिर दोनों हाथोंसे आँसू पोंछकर पराजित सैनिककी तरह अपने रास्ते पर चल पड़ा। सामनेसे जीर्ण-शीर्ण वस्त्रोंसे अपने शरीरकी लाज ढँके, गोदमें एक बच्चेको लिए, एक भिखारिन आती हुई दिखाई पड़ी। यह संभवतः उसकी माँ होगी। लड़के को देखकर भर्त्सनापूर्ण स्वरमें उसने कहा—'क्यों रे, इतनी देर कहाँ रोता फिर रहा था? मैं तो तुझे खोज-खोजकर थक गई।'

लड़केने अपनी आँखें नीची कर लीं और बिना कुछ उत्तर दिए उसके पीछे-पीछे चल पड़ा।